इंदिरा गांधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

एम.एच.डी-06
हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

खंड

6

आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक	इकाई संख्या
डॉ. कृष्णचंद्र लाल रीडर, हिन्दी विभाग गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	20,22
डॉ. मान्धाता ओझा रीडर, हिन्दी विभाग हिन्दू कॉलेज, दिल्ली	21
प्रो. सुधाकर सिंह प्रोफेसर, हिन्दी विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	23
श्री संजीव कुमार परामर्शदाता, इं.गां.रा.मु.वि.वि	

संपादक
प्रो. निर्मला जैन
भूतपूर्व अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

पाठ्यक्रम संयोजक
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी
वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग
इं.गां.रा.मु.वि.वि.

सामग्री निर्माण

श्री तिलक राज
सहायक कुलसचिव (प्रकाशन)
सा. नि. एवं वि. प्र. इग्नू नई दिल्ली

श्री यशपाल
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
सा. नि. एवं वि. प्र. इग्नू नई दिल्ली

नवम्बर, 2020 (पुनः मुद्रित)

ISBN: 81-266-0315-1

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली–110068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कुलसचिव, सामग्री निर्माण एवं वितरक प्रभाग द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

मुद्रकः गीता ऑफसेट प्रिंटर्स प्रा. लि., सी–90, ओखला फेज़–1, नई दिल्ली–110020

खंड परिचय

यह एम.ए. (हिन्दी) के पाठ्यक्रम-6 का छठा खंड है। इससे पहले खंड-4 एवं खंड-5 में आप आधुनिक हिन्दी काव्य के विषय में अध्ययन कर चुके हैं। प्रस्तुत खंड में आप आधुनिक हिन्दी गद्य की जानकारी प्राप्त करेंगे। इस खंड में पाँच इकाइयाँ हैं। इन इकाइयों में आप हिंदी कथा साहित्य, हिंदी नाट्य साहित्य, हिंदी आलोचना, हिंदी निबंध और अन्य गद्य विधाओं का अध्ययन करेंगे तथा साथ ही उर्दू साहित्य का परिचय प्राप्त करेंगे। इन इकाइयों के माध्यम से आप भारतेंदु युग से समकालीन युग तक की गद्य की इन विधाओं की विकास यात्रा से परिचित हो सकेंगे।

इकाई 20 में हिंदी कथा साहित्य के अंतर्गत कहानी और उपन्यास के विकास से आपका परिचय कराया जाएगा। विविध युगों के परिवर्तन के बीच कहानी और उपन्यास की कथा वस्तु और रूपविधान में परिवर्तन होता रहा है। उससे कहानी और उपन्यास की दिशा बदलती रही है। इस इकाई में आप कहानी और उपन्यास की विकास यात्रा की जानकारी प्राप्त करेंगे।

इकाई 21 में आप हिंदी नाट्य साहित्य का अध्ययन करेंगे। आधुनिक हिंदी नाटक का विकास भारतेंदु युग से आरंभ होता है। इस नाटक का विकास रंगमंच से जुड़ा हुआ है। रंगमंच नाटक का माध्यम है। जब हम नाटक की चर्चा करेंगे तो साथ में उस युग की रंगमंचीय गतिविधियों से भी आपका परिचय कराएँगे।

इकाई 22 में हिंदी आलोचना की जानकारी दी गई है। आधुनिक हिंदी आलोचना की शुरुआत भारतेंदु युग से हुई थी। आलोचना का वास्तविक विकास शुक्ल युग और शुक्लोत्तर युग में हुआ। आलोचना के दृष्टिकोण में समय-समय पर परिवर्तन हुआ है। दृष्टिभेद के कारण आलोचना के वैचारिक परिप्रेक्ष्य बदलते रहे हैं। इस इकाई में हम उन परिवर्तनों की चर्चा भी करेंगे।

इकाई 23 निबंध और अन्य गद्य विधाओं पर आधारित है। निबंध का विकास भारतेंदु युग से प्रारंभ हुआ और उसका विकास क्रमश: विभिन्न साहित्यक युगों में होता रहा है। हिंदी निबंधकारों ने अपनी निजी अनुभूति और अभिव्यक्ति के आधार पर निबंधों को विविध रूपों में रचा। इसी प्रकार रेखा चित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्म कथा, डायरी और पत्र साहित्य के विकास का अध्ययन भी आप इसी इकाई के अंतर्गत करेंगे।

इकाई 24 में उर्दू साहित्य का परिचय दिया गया है। इस इकाई में उर्दू गद्य एवं पद्य के प्रारंभिक चरण से लेकर अब तक के साहित्य की चर्चा की गई है।

खंड के अंत में उपयोगी पुस्तकों की सूची है, जो इन विषयों के विशेष अध्ययन के लिए आपको सहायक होंगी।

इकाई 20 हिन्दी कथा-साहित्य

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

इस इकाई में हिन्दी कथा-साहित्य की चर्चा की गई है तथा विभिन्न आंदोलनों से संबंधित कहानी एवं उपन्यास साहित्य का परिचय दिया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- हिन्दी कहानी और उपन्यास के विकास को बता सकेंगे,
- बदलते हुए सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों में हिन्दी कहानी और उपन्यास की वस्तु, संरचना और दृष्टि में उपस्थित परिवर्तनों का उल्लेख कर सकेंगे,
- समय-समय पर हिन्दी कहानी में जो आन्दोलन हुए हैं, उनके महत्व और वैशिष्ट्य को रेखांकित कर सकेंगे,
- समकालीन हिन्दी कहानी और उपन्यास की दशा और दिशा को समझ सकेंगे,
- हिन्दी कहानी और उपन्यास में चित्रित दलित चेतना पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- हिन्दी कहानी और उपन्यास की शिल्पगत विशेषताओं को बता सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

एम. ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम-6 में आप हिन्दी भाषा एवं साहित्य के इतिहास का अध्ययन कर रहे हैं। अब तक आपने आधुनिक हिन्दी साहित्य के अंतर्गत भारतेन्दु युगीन साहित्य, द्विवेदीयुगीन साहित्य, छायावादी काव्य, उत्तरछायावादी काव्य, प्रगतिशील साहित्य, प्रयोगवाद, नयी कविता एवं समकालीन हिन्दी कविता का अध्ययन कर लिया है। इस पाठ्यक्रम के खण्ड-6 में आप आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य का परिचय प्राप्त करेंगे। प्रस्तुत इकाई में आधुनिक हिन्दी गद्य की दो प्रमुख विधाओं — कहानी और उपन्यास — के विकास पर समालोचनात्मक प्रकाश डाला जा रहा है इससे आप हिन्दी कहानी और उपन्यास के विकास को समझ सकेंगे।

सबसे पहले आपको यह समझ लेना चाहिए कि कहानी और उपन्यास से संबंधित साहित्य को सम्मिलित रूप में कथा-साहित्य कहा जाता है। ये दोनों गद्य की दो महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय विधाएँ हैं और इनका विकास आधुनिक काल में हुआ है। ये विधाएँ संवेदना, कथ्य, शिल्प और संचेतना की दृष्टि से प्राचीन भारतीय कथा और आख्यायिका की परम्परा से भिन्न तथा आधुनिकता की चेतना से सम्पन्न हैं। इनके विकास और प्रवृत्ति को निरूपित करते समय यथास्थान इन तथ्यों पर चर्चा की जाएगी। इस संबंध में आपके लिए यह जानना जरूरी है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी सभ्यता, शिक्षा एवं साहित्य के प्रसार, भारतीय स्वाधीनता-संघर्ष और विभिन्न सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य-जगत में व्यापक परिवर्तन हुआ। भारतेन्दु युग में हिन्दी नयी चाल में ढली, ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया, पद्य के साथ-साथ गद्य रचना की प्रवृत्ति विकसित ही नहीं हुई अपितु वह इतनी प्रबल एवं प्रमुख हुई कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल को हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल को 'गद्य-काल' की संज्ञा भी देनी पड़ी। आधुनिक काल में गद्य के आविर्भाव को शुक्ल जी ने एक साहित्यिक घटना कहा है और रेखांकित किया है कि इस काल में 'साहित्य के भीतर जितनी अनेकरूपता का विकास हुआ है उतनी अनेकरूपता का विधान कभी नहीं हुआ था।' उल्लेखनीय है कि इसके पहले पद्य की प्रधानता थी। आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक का समूचा हिन्दी साहित्य-पद्य साहित्य ही है। आधुनिक काल में सशक्त विचाराभिव्यक्ति के लिए गद्य का सहारा तो लिया ही गया, उसके अनेक रूपों को भी विकसित किया गया जिनमें निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र आदि उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि हिन्दी कहानी और उपन्यास का विकास आधुनिक काल में ही हुआ, किन्तु दोनों के विकास की गति और रीति थोड़ी-बहुत भिन्नता लिए हुए है, इसलिए इनके विकास को पृथक रूप से समझना ही उचित एवं लाभप्रद है। अत: आगे हम आपको पहले हिन्दी कहानी और उसके बाद हिन्दी उपन्यास के विकास से अवगत कराएँगे।

20.2 हिन्दी कहानी

हिन्दी कहानी की अब तक की विकास-यात्रा लगभग सौ वर्षों की ऐसी यात्रा है जिसमें जल्दी-जल्दी नये परिवर्तन होते रहे हैं। उसकी विकास-गति तीव्र और अपने समय-संदर्भों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी रही है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि हिन्दी कहानी ने बहुत कम समय में एक श्रेष्ठ साहित्यिक विधा का रूप प्राप्त कर लिया। इसका प्रमुख कारण यह है कि आरंभ में ही कुछ महत्वपूर्ण रचनाकारों ने अपनी प्रतिभा से उसे (हिन्दी कहानी) प्रारंभिक दौर की लड़खड़ाहट और अनगढ़पन से मुक्त कर दिया। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की उसने कहा था कहानी की गणना हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में होती है। यह कहानी सन् 1915 में प्रकाशित हुई थी। मधुरेश ने लिखा है - 'उसने कहा था' वस्तुत: हिन्दी की पहली कहानी है, जो शिल्प विधान की दृष्टि से हिन्दी कहानी को एक झटके में प्रौढ़ बना देती है।' प्रेम, बलिदान और कर्तव्य की भावना से अनुप्राणित तमाम कहानियाँ लिखी गई हैं किन्तु यह कहानी अपनी मार्मिकता और सघन गठन के कारण आज भी अद्वितीय बनी हुई है। हिन्दी कहानी के उदयकाल में ही ऐसी श्रेष्ठ रचना का प्रकाशित होना एक महत्वपूर्ण घटना है। इसने आगे के कहानीकारों के लिए उत्कृष्ट कहानी की रचना के लिए एक चुनौती प्रस्तुत कर दी। कहना न होगा कि परवर्ती कथाकारों ने उस चुनौती को स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप हिन्दी कहानी का विकास बड़ी ही तेजी से हुआ।

हिन्दी कहानी के समूचे विकास-क्रम को हम निम्नलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत समझने का प्रयत्न करेंगे :

1. आरंभिक हिन्दी कहानी 2. प्रेमचंदयुगीन हिन्दी कहानी 3. प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी

4. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी 5. समकालीन हिन्दी कहानी।

20.2.1 आरंभिक हिन्दी कहानी

आरंभिक हिन्दी कहानी पर प्रकाश डालने से पूर्व इस पर विचार कर लेना अपेक्षित है कि हिन्दी कहानी का आरंभ कब से हुआ? सामान्यतया सभी इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि 'सरस्वती' पत्रिका (सन् 1900) के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी कहानी का भी उदय हुआ। आरंभ में 'सरस्वती' में जो कहानियाँ

प्रकाशित हुई उनमें किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' जैसी वर्णनात्मक, केशवप्रसाद सिंह की 'आपत्तियों का पहाड़' जैसी स्वप्न-कल्पनाओं से भरपूर रोमांचक, कार्तिकप्रसाद खत्री की 'दामोदर राव की आत्म-कहानी' जैसी आत्मकथात्मक और पार्वतीनंदन की प्रेम की फुआरा' जैसी घटना-प्रधान सामाजिक कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। लेकिन डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने इन कहानियों को हिन्दी की मौलिक कहानी मानने से इनकार किया है, किन्तु वे यह तो स्वीकार करते हैं कि इन कहानियों की प्रेरणा और भावशक्ति के फलस्वरूप 'सरस्वती' के तीसरे वर्ष में मौलिक हिन्दी कहानी का आरंभ हुआ। वे शिल्पविधि की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' (सन् 1903) को हिन्दी की पहली मौलिक कहानी मानते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'इन्दुमती' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'गुलबहार' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'प्लेग की चुड़ैल' (मास्टर भगवानदास), 'ग्यारह वर्ष का समय' (रामचंद्र शुक्ल), 'पंडित और पंडितानी' (गिरिजादत्त वाजपेयी) और 'दुलाई वाली' (बंग महिला) को सामने रखकर हिन्दी की पहली मौलिक कहानी का निर्णय किया है। ये कहानियाँ क्रमशः 1900 ई०, 1902 ई०, 1903 ई०, 1903 ई० और 1907 ई० में लिखी गईं। इन पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है - 'इनमें यदि मार्मिकता की दृष्टि से भावप्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं - 'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाई वाली'। 'इन्दुमती' किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिन्दी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरान्त 'ग्यारह वर्ष का समय', फिर 'दुलाई वाली' का नम्बर आता है।'

आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी की पहली मौलिक कहानी को ढूँढने के क्रम में काफी अनुसंधान हुआ। 'इन्दुमती' को शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट' की छाया कहकर विद्वानों ने उसे मौलिक कहानी के दायरे से बाहर कर दिया। देवीप्रसाद वर्मा ने सन् 1901 में 'छत्तीसगढ़ मित्र' में छपी माधव सप्रे की कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' को हिन्दी की पहली मौलिक कहानी सिद्ध किया। उसके बाद डॉ० बच्चन सिंह ने सन् 1976 में 'सारिका' पत्रिका में हिन्दी की पहली मौलिक कहानी के रूप में किशोरीलाल गोस्वामी की ही एक दूसरी कहानी 'प्रणयिनी परिणय' को अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित कराया। यह कहानी सन् 1887 में लिखी गई थी। अभी तक आलोचकों ने डॉ० बच्चन सिंह की इस स्थापना का खण्डन नहीं किया है। ऐसी स्थिति में यह माना जा सकता है कि हिन्दी कहानी की विकास-यात्रा सन् 1887 से शुरू हुई। वैसे 'प्रणयिनी परिणय' में वह आधुनिक चेतना और संवेदना नहीं है जिसकी वजह से हिन्दी कहानी आधुनिक विधा के रूप में जानी-पहचानी जाती है।

यदि हम कहानी की जीवनावधि को अधिक लम्बी सिद्ध करने के लिए थोथी माथापच्ची न करें तो यह स्वीकार करने में कोई विशेष हानि नहीं है कि हिन्दी कहानी की विकास-यात्रा 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही शुरू हुई और वह उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर चलती गई। इसी पत्रिका के माध्यम से किशोरीलाल गोस्वामी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बंग महिला, वृन्दावन लाल वर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा -कौशिक', प्रेमचंद प्रभृति महत्वपूर्ण कहानीकार प्रकाश में आये। गुलेरी जी की अमर कहानी 'उसने कहा था' सन् 1915 में और मुंशी प्रेमचंद की 'पंच परमेश्वर' कहानी सन् 1916 में इसी पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित कुछ कहानियों और उसके पूर्व लिखी गई'कहानियों को 'आरंभिक हिन्दी कहानी,' 'प्राचीन हिन्दी कहानी' या प्रेमचंद पूर्व हिन्दी कहानी' की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसी कहानियों में भारतेन्दु के पूर्व लिखी गई प्रेमसागर' (लल्लू लाल), 'नासिकेतोपाख्यान' (सदल मिश्र), 'रानी केतकी की कहानी' (सैयद इंशा अल्ला खाँ) तथा 'सरस्वती' पत्रिका के आरंभिक दो वर्षों में प्रकाशित कहानियों को परिगणित किया जा सकता है। प्रारंभिक काल के कहानी-साहित्य की अपरिपक्वता, शिथिलता, स्फीति आदि को लक्ष्य करके कुछ विद्वानों ने इन्हें हिन्दी कहानी के 'बाल्यकाल का साहित्य' या 'शैशवकाल का साहित्य' कहा है।

प्रारंभिक हिन्दी कहानी के कथानक स्थूल, विवरणात्मक और घटनाओं के कुतूहलपूर्ण चमत्कार पर ही आधारित हैं। यह विशेषता प्रेमसागर', 'नासिकेतोपाख्यान' और 'रानी केतकी की कहानी' में ही नहीं, किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती', रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' में भी मौजूद है।

भगवानदास की 'प्लेग की चुड़ैल', केशवप्रसाद सिंह की 'चन्द्रलोक की यात्रा', गिरिजादत्त वाजपेयी की 'पति का पवित्र प्रेम' जैसी कहानियों में वर्णनात्मकता, स्थूलता, घटनात्मकता, आकस्मिकता और कुतूहलपूर्णता चरम रूप में विद्यमान है। भारतेन्दु युग के कुछ कहानीकारों की कहानियों में निबन्धात्मकता, उपदेशात्मकता और अद्भुत रस की प्रधानता है। तात्पर्य यह कि भाषा, शिल्प, संवेदना, उद्देश्य, शैली आदि सभी दृष्टियों से विचार करने पर प्रारंभिक हिन्दी कहानियों में पर्याप्त कच्चापन दिखाई पड़ता है। उन कहानियों पर भारत के प्राचीन कथा-साहित्य और लोककथा-साहित्य का गहरा प्रभाव है। लाला पार्वतीनंदन की प्रेम की फुआरा', 'भूतों वाली हवेली', 'जीवनाग्नि', 'नरक', 'गुलजार' आदि कहानियों पर यह प्रभाव काफी स्पष्ट है। रहस्य, रोमांच, कौतुक, जिज्ञासा, अतिरंजना और उपदेश से भरी प्रारंभिक हिन्दी कहानी परवर्ती कहानी की आधुनिकता और शिल्प-सौष्ठव के समक्ष बहुत पुरानी और बचकानी लगती है।

20.2.2 प्रेमचंदयुगीन हिन्दी कहानी

यदि हम ध्यान से देखें तो पता लगेगा कि 1900 ई० तक हिन्दी कहानी का निजी रूप बहुत नहीं उभर सका था। इससे पूर्व की कहानियाँ साधारण, अनगढ़, संस्कृत के कथा और पुराण-साहित्य से अनुप्राणित तथा रहस्य-रोमांच से भरी थीं। उनमें आकस्मिकता और संयोग तत्व की प्रधानता थीं। जीवन-यथार्थ के कठोर साक्षात्कार से रहित उन कहानियों में आदर्श और कल्पना का ऐसा लोक था जो विस्मय-विमुग्ध करके आनंदित तो करता था किन्तु पाठक में संघर्ष-चेतना को उद्दीप्त करने में असमर्थ था। प्रेमचंद के आगमन से हिन्दी कहानी को एक नई दिशा एवं दृष्टि मिली। यद्यपि वे सन् 1907 से ही उर्दू में कहानियाँ लिखने लगे थे, किन्तु सन् 1916 में जब उनकी 'पंच परमेश्वर' कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, तब से वे हिन्दी कथा-क्षेत्र के महत्वपूर्ण लेखक के रूप में न केवल जाने-पहचाने गये, बल्कि उनसे हिन्दी कहानी को एक नई दिशा मिली। उन्होंने हिन्दी के प्राचीन कथा-शिल्प को तोड़कर युगानुरूप उसे नया रूप-रंग प्रदान किया। अब तक कहानी में कुतूहल, रोमांचकता और मनोरंजकता की प्रधानता थी, अब हिन्दी कहानी मनुष्य के यथार्थ से जुड़ गई।

प्रेमचंद ने पहली बार कहानी को 'मनोवैज्ञानिक विश्लेषण', 'जीवन के यथार्थ चित्रण' और 'स्वाभाविक वर्णन' से जोड़ने और 'कल्पना की मात्रा कम करने' का आग्रह किया। उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक यथार्थ को केन्द्र में रखकर मानवीय संवेदना और हिन्दी कथा-संसार से देवता, राजा और ईश्वर को अपदस्थ करके दीन, दलित, शोषित प्रताड़ित मनुष्य को नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया। यह उनका युगान्तरकारी कार्य था, इसलिए उनके समय को हिन्दी कथा-साहित्य में प्रेमचंद युग के नाम से जाना जाता है। इसे हम हिन्दी कथा साहित्य का वास्तविक 'विकास-युग' भी कह सकते हैं। इसी युग में कहानी को स्वतंत्र व्यक्तित्व मिला और अनेक ऐसी कहानियों का सृजन हुआ जो अन्य भाषाओं की कहानियों की तुलना में खड़ी होने की सामर्थ्य भी रखती हैं।

प्रेमचंद एक सजग कहानीकार थे। उन्होंने अपने युग को अपने संस्कारों में ढालकर प्रस्तुत किया।। प्रेमचंद-युग का साहित्य प्रथम विश्व-युद्ध के बाद का साहित्य है। यह युग भारतीय स्वाधीनता-संघर्ष का भी स्वर्ण-काल है। इसी समय स्वाधीनता-संघर्ष का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में आया, जिनके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विचारों और कार्यकलापों का गहरा प्रभाव उस समय के लेखकों पर पड़ा। आरंभ में प्रेमचंद ने गांधी के प्रभावस्वरूप आदर्शवादी और सुधारवादी कहानियाँ लिखीं जिनमें देश-भक्ति के साथ-साथ आदर्श, नैतिकता, मर्यादा, कर्तव्यपरायणता आदि का स्वर काफी ऊँचा है। 'सौत', 'पंचपरमेश्वर', 'विचित्र होली', 'आहुति', 'जुलूस', 'सत्याग्रह', 'शतरंज के खिलाड़ी', नमक का दारोगा', 'बड़े घर की बेटी', 'अलग्योझा', आदि अनेक कहानियाँ प्रेमचंद की उपर्युक्त कथा-प्रवृत्ति को समझने में सहायक है।

प्रेमचंद का कहानी-लेखन सन् 1916 से सन् 1936 तक के बीच सम्पन्न हुआ ऐसा लेखन है जिसमें युग के समानान्तर चलने और युग की गति को समझने और बदलने की तीव्र आकांक्षा दिखाई पड़ती है। उनके इस लेखन में बराबर परिवर्तन और विकास होता रहा है। उन्होंने अपनी कथा-संचेतना और कहानी-कला को बराबर विकसित किया है। उन्होंने लगभग 300 कहानियाँ लिखीं। ये कहानियाँ अपने रूप-रंग में

प्रेमचंद के कथा-शिल्प के क्रमिक विकास को संजोए हुए हैं। इनमें हम आसानी से देख सकते हैं कि जो प्रेमचंद आरंभ में देश के सुधारवादी आंदोलनों के प्रभाव में हल्के-फुल्के आदर्शवाद और सुधारवाद को ध्यान में रखकर सरल और हृदय परिवर्तनवादी कहानियाँ लिख रहे थे, उन्होंने ही आगे चलकर जटिल और क्रूर यथार्थ वाली कहानियाँ लिखीं। उनकी 'सवा सेर गेहूँ', 'मुक्तिमार्ग', 'पूस की रात', 'सद्‌गति', 'बाबा जी का भोग', 'कफन' जैसी अनेक कहानियाँ उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में सामाजिक यथार्थ और समस्याओं का चित्रण करके केवल कहानी के कथानक में परिवर्तन नहीं किया बल्कि उसे यथार्थ शिल्प भी प्रदान किया। उनकी कहानियों में कथानक की जो सघन अन्विति, सहज प्रवाह, चरमसीमा में मार्मिकता, चित्रण की यथार्थता, भाषा की सादगी और अभिव्यक्ति में पैनापन है, वह बहुत कम कहानीकारों में दिखाई पड़ता है। उनकी कहानियों में शिल्प के स्तर पर साधारण और असाधारण का सुखद संयोग हुआ है।

प्रेमचंद की तरह सामाजिक यथार्थ को केन्द्र में रखकर कहानी लिखने वालों में सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', भगवती प्रसाद वाजपेयी, ज्वालादत्त शर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कौशिक की 'ताई', 'रक्षाबंधन', 'विधवा', 'इक्केवाला', सुदर्शन की 'हार की जीत', 'सूरदास', 'हेरफेर', भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी', 'मिठाई वाला' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय हैं किन्तु इन कहानीकारों ने सामाजिक यथार्थ के चित्रण में न तो प्रेमचंद जैसी सिद्धता हासिल की है और न ही उनकी जैसी व्यापक मानवीय संवेदना उभारने में सफलता प्राप्त की है, फिर भी इनकी कलात्मक उपलब्धि उल्लेखनीय है। सुदर्शन की 'हार की जीत', कौशिक की 'ताई', भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी' जैसी कहानियों ने अपने मार्मिक संवेदना, मानव-हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति और मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण पाठकों के हृदय पर अमिट छाप छोड़ी है।

'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के लगभग 9 वर्ष बाद जयशंकर प्रसाद की प्रेरणा से एक दूसरी पत्रिका प्रकाशित हुई – 'इन्दु'। 'प्रसाद' जी की पहली कहानी 'ग्राम' इसी पत्रिका में छपी। इस पत्रिका के माध्यम से भी अनेक श्रेष्ठ कहानीकार प्रकाश में आये, जिनमें जी० पी० श्रीवास्तव और राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। 'सरस्वती' और 'इन्दु' पत्रिकाओं ने हिन्दी कहानी के विकास में पर्याप्त योग दिया बल्कि कहना चाहिए कि यदि इनका सहयोग न मिला होता तो आज शायद हिन्दी कहानी की स्थिति कुछ और ही होती।

हिन्दी कहानी के विकास में प्रेमचंद की ही तरह जयशंकर प्रसाद का योगदान भी उल्लेखनीय है। प्रसाद जी कवि पहले हैं, कहानीकार बाद में। परिणामतः उन्होंने ऐसी कहानियों की रचना की जिनमें भावुकता, कल्पनाप्रवणता और काव्यात्मकता की प्रधानता है। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से भारतीय संस्कृति और इतिहास के उन स्वर्णिम अध्यायों को भी फिर से प्रकाशित किया जिनमें देशप्रेम, आत्मगौरव, आदर्श, प्रेम और कर्त्तव्य की मार्मिक झाँकी अंकित है। अतीत के गौरव-गान के द्वारा प्रसाद जी ने प्रकारान्तर से राष्ट्रीय स्वाधीनता-संघर्ष को काफी बल प्रदान किया। इस दृष्टि से उनकी 'देवरथ', 'सालवती', 'पुरस्कार', 'सिकन्दर की शपथ', 'चित्तौड़ का उद्धार' जैसी कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। प्रसाद जी की ऐतिहासिक इतिवृत्त पर लिखी गई ऐसी अनेक कहानियाँ हैं जो प्रेमभावना के विभिन्न रूपों को उद्‌घाटित करती हैं जैसे 'तानसेन', 'रसिया बालम', 'गुलाम', 'जहाँआरा', 'मदन-मृणालिनी' आदि। प्रसाद जी मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के रचनाकार हैं। यह उनकी विशिष्टता भी और एक हद तक सीमा भी। उनकी यह विशिष्टता उनकी कहानियों में भी मौजूद है। प्रसाद जी की प्रकृति अन्तर्मुखी थी, जिसके कारण उनकी अधिकांश कहानियों में व्यक्तिवादी रचना-दृष्टि दिखाई पड़ती है, किन्तु उनकी अनेक कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें सामाजिक-राजनीतिक चिन्ताओं और समस्याओं की अभिव्यक्ति प्रभावशाली ढंग से हुई है। 'बिसाती', 'मधुआ' जैसी कहानियाँ लिखकर प्रसाद जी ने सामान्य जन के प्रति भी अपना गहरा राग प्रदर्शित किया है। 'मधुआ' कहानी उनकी अनुपम रचना है। यह प्रेमचंद की सामाजिक कहानियों के बीच स्थान पाने के योग्य है।

प्रसाद और प्रेमचंद एक ही युग के रचनाकार होते हुए भी अपनी प्रेरणा, भावना और रचना-दृष्टि के धरातल पर एक-दूसरे से काफी भिन्न थे। एक तरह से दोनों ने हिन्दी कहानी में दो समानान्तर धाराओं

को विकसित किया - एक थी प्रेमचंद की समाजपरक यथार्थवादी धारा, दूसरी थी प्रसाद की भाववादी व्यक्तिवादी धारा; किन्तु इन दोनों धाराओं को विरोधी धाराएँ न मानकर परस्पर पूरक और सहयोगी धाराएँ मानना चाहिए। दोनों ने अपने समय के समाज को अपने-अपने ढंग से जगाने और आगे ले चलने का कार्य किया।

जिस तरह प्रेमचंद की समाजपरक यथार्थवादी धारा में अनेक कहानीकारों ने रचनात्मक योगदान किया, उसी तरह प्रसाद की भाववादी धारा को भी चंडीप्रसाद 'हृदयेश', रामकृष्ण दास, वाचस्पति पाठक, मोहनलाल महतो, विनोदशंकर व्यास, चतुरसेन शास्त्री ने अपनी कहानियों से गति प्रदान की। इन कहानीकारों ने 'प्रसाद' जैसी भावप्रधान कहानियों की रचना की, आदर्श और रोमांस की आवेगमयी अभिव्यक्ति की, किन्तु ये प्रसाद की काव्यात्मक ऊँचाई, दार्शनिक गूढ़ता और भाषा की प्रांजलता का पूरा-पूरा निर्वाह न कर सके।

प्रेमचंद-युग में ही पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' एक ऐसे कहानीकार थे जो उपर्युक्त धाराओं में से किसी से भी जुड़े हुए नहीं थे। उन्होंने स्वतंत्र रूप से साहित्य-साधना की और अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई। 'उग्र' ने अपने को हिन्दी के प्रथम राजनीतिक लेखक के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने 'उसकी माँ', 'दोजख की आग', 'चिन्गारी', 'बलात्कार', 'भुनगा' आदि कहानियों की रचना करके राजनीतिक एवं सामाजिक यथार्थ का प्रकृत रूप प्रस्तुत किया जिसके लिए उनकी कटु आलोचना भी हुई। लोगों ने उनके साहित्य को 'अश्लील' और उन्हें 'घासलेटी साहित्यकार' भी कहा किन्तु 'उग्र' ने इस सब की परवाह न करते हुए सामाजिक-राजनीतिक जीवन पर करारा व्यंग्य किया, उसकी कुरीतियों-त्रुटियों को बड़े साहस के साथ प्रकाशित किया। उन्होंने अपने सहज व्यंग्य से हिन्दी कहानी की भाषा को धार और सजीवता प्रदान की।

हिन्दु-मुस्लिम एकता, विधवा की स्थिति, अवैध संतान, वेश्या-वृत्ति और व्यभिचार आदि पर 'उग्र' ने बेबाकी के साथ लिखा है। इसी से उन्हें प्रकृतवादी कथाकार कहा गया लेकिन कुछ आलोचकों का मानना है कि 'उग्र' प्रकृतवादी लेखक नहीं हैं बल्कि वे आलोचनात्मक यथार्थवाद का मार्ग प्रशस्त करने वाले क्रांतिकारी एवं साहसी लेखक हैं।

20.2.3 प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी

प्रेमचंद ने हिन्दी कहानी में यथार्थ चित्रण की जो नींव डाली थी, आगे चलकर उसका अनेकायामी प्रसार हुआ जिसके फलस्वरूप हिन्दी कहानी को यशपाल जैसे मार्क्सवादी और प्रगतिशील, इलाचंद्र जोशी, जैनेन्द्र और अज्ञेय जैसे मनोविश्लेषक कहानीकार प्राप्त हुए। इस तरह प्रेमचंद के समय से ही चली आ रही समाजवादी और व्यक्तिवादी धारा का यहाँ मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणवाद के आलोक में नया विकास हुआ। इन धाराओं से जुड़े रचनाकारों की प्रतिबद्धताएँ और मान्यताएँ इतनी स्पष्ट और दृढ़ रही हैं कि उन्हें केवल 'यथार्थवाद' की सीमा में लाकर एक नहीं कहा जा सकता है। कुछ लोगों को इन धाराओं की पृथकता भले ही एक तरह का सरलीकरण प्रतीत हो किन्तु वास्तविकता यह है कि यशपाल और जैनेन्द्र को एक साथ रखकर मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है।

यशपाल प्रेमचंद के सामाजिक यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाले उल्लेखनीय कहानीकार हैं। उन्होंने सामाजिक शोषण, दरिद्रता, नग्नता, अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न आदि को अपनी कहानियों का विषय बनाया और हमारे सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के संघर्षों, मूल्यों, मर्यादाओं एवं नैतिकता के खोखलेपन को उद्घाटित किया। उन्होंने 'कर्मफल', 'फूल की चोरी', 'चार आने', 'पुनियाँ की होली', 'आदमी का बच्चा', 'परदा', 'फूलों का कुर्ता', 'धर्मरक्षा', 'करवा का व्रत', 'पतिव्रता' आदि कहानियों में आर्थिक एवं सामाजिक विषमता के दोषों, तज्जनित परिणामों और कुरीतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति की। यशपाल ने मर्यादा, धर्म और नैतिकता के थोथेपन पर तीव्र आघात किया और उसके विरुद्ध अपने पात्रों में संघर्ष-चेतना जाग्रत की। उनकी कहानियों में व्यंग्य का स्वर मुखरित हुआ, कहानी-कला में स्थूल समाज-चित्रण के स्थान पर उसके मार्मिक एवं सांकेतिक उद्घाटन की कला का विकास हुआ, कहानी की स्थूलता समाप्त हुई और उसे सूक्ष्म संगठित व्यक्तिवाद प्राप्त हुआ। यशपाल की

इस मार्क्सवादी यथार्थवादी कलादृष्टि को प्रश्रय देने वाले कहानीकारों में रांगेय राघव, भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने शोषण, अन्याय और पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष-भाव को प्रेरित करने वाली कहानियाँ लिखीं। **रांगेय राघव** ने राष्ट्रीय स्वाधीनता-संघर्ष, बंगाल का अकाल, देश-विभाजन, साम्प्रदायिक विद्वेष, मजदूरों की देशव्यापी हड़तालों, गोलीकांड, बेरोजगारी और भुखमरी आदि को विषय बनाकर जो कहानियाँ लिखीं, वे उनकी सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता का पता देती हैं। उनकी उल्लेखनीय कहानियों में 'गदल', 'पंच परमेश्वर', 'मृगतृष्णा', 'कुत्ते की दुम शैतान' का नाम लिया जा सकता है।

भैरव प्रसाद गुप्त ने भी यथार्थवादी सोच एवं मार्क्सवादी चेतना के तहत ग्रामीण एवं शहरी परिवेश वाली कहानियाँ लिखी हैं। 'सपने का अंत', 'सिविल लाइन का कमरा', 'फंदा', 'इंसान और मक्खियाँ', 'ऐसी आजादी रोज-रोज' उनकी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। गुप्त जी का रचनाकाल आजादी के बाद तक फैला हुआ है। उनकी अधिकांश कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर भारत का जीवन चित्रित हुआ है।

इसी समय **जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी** ने मनोवैज्ञानिक यथार्थ को केन्द्र में रखकर अपनी कहानियों में मानव-मन को चित्रित किया और उसकी अतल गहराइयों में डूबकर उसके अन्त:सत्य को उद्‌घाटित किया। इन कहानीकारों पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का गहरा प्रभाव है। इलाचंद्र जोशी की कहानियाँ तो फ्रायड के सिद्धान्त का साहित्यिक रूपान्तरण प्रतीत होती हैं। उनकी कहानियों में मनुष्य की दमित वासनाओं, इच्छाओं, रुग्ण मनोवृत्तियों, अहंकार, आत्मरति, ईर्ष्या, अंधविश्वास आदि का सूक्ष्म, प्रतीकात्मक और सांकेतिक अंकन हुआ है। जोशी जी का विचार है कि मनुष्य का असली रूप उसके भीतर - मन में - विद्यमान है अत: उसके अन्तर्मन की परतों को उधेड़कर ही उसे जाना जा सकता है। अपनी इस धारणा के तहत उन्होंने 'रोगी', 'परित्यक्ता', 'खण्डहर की आत्माएँ', 'दुष्कर्मी', 'बदला' जैसी कहानियाँ लिखीं। इन कहानियों से जोशी जी ने जिस मनुष्य को रूपायित किया वह काफी रुग्ण, आत्मसीमित, कुंठित और अपराधी है। जोशी की कहानियों में आन्तरिक यथार्थ के चित्रण पर बल देने के कारण भाषा-शैली में व्यापक परिवर्तन परिलक्षित हुआ। उनकी भाषा जटिल मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए, जटिल और दुर्बोध हुई, उसकी लयात्मकता और मिठास गायब हो गई और शैली में प्रतीकात्मकता और व्यंजकता का समावेश हुआ।

जैनेन्द्र भी मनोवैज्ञानिक सत्य को उद्‌घाटित करने वाले कहानीकार हैं किन्तु उनकी दृष्टि सिद्धान्तबद्ध और संकुचित नहीं है। उन्होंने व्यावहारिक मनोविज्ञान का सहारा लिया है, मनोवैज्ञानिक युक्तियों का नहीं। 'पत्नी', 'पाजेब', 'जाह्नवी', 'ग्रामोफोन का रिकार्ड', 'एक गो' जैसी कहानियों में केवल मनोवैज्ञानिक युक्तियाँ नहीं हैं बल्कि उनमें गहरी मानवीय संवेदना और वास्तविकता भी है। जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक चित्रण स्वस्थ एवं स्वच्छ है, उसमें विश्वसनीयता और आत्मीयता है। वे हिन्दी के पहले ऐसे कहानीकार हैं जिसने हिन्दी कहानी को घटना-वर्णन के घेरे से निकालकर पूरी तरह चरित्र- प्रधान बनाया। जैनेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक वास्तविकताओं का चित्रण करते हुए समाज की कुरीतियों और कुसंस्कारों से लड़ने के लिए विद्रोह-भाव भी पैदा किया। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि व्यंग्य, विद्रोह का स्वर जैनेन्द्र आदि मनोविश्लेषणवादी कहानीकारों में भी है और यशपाल जैसे मार्क्सवादी लेखक में भी, किन्तु दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। यशपाल में संघर्ष चेतना खुली हुई, प्रखर और मार्क्सवादी आधार लिए हुए है और जैनेन्द्र आदि की विद्रोह भावना अन्तर्ग्रंथित और मनोविश्लेषणपरक है जिसमें कहीं न कहीं संघर्ष से पलायन या अत्याचार सहते रहने की मूकपीड़ा भी विद्यमान है।

अज्ञेय इस परम्परा के तीसरे महत्वपूर्ण कहानीकार हैं। उनमें मनोवैज्ञानिक पकड़ के साथ चिन्तन की गहराई और सूक्ष्मता है जो कभी-कभी दार्शनिक ऊँचाई भी प्राप्त कर लेती है। उन पर सार्त्र आदि अस्तित्ववादी चिन्तकों का भी गहरा प्रभाव है। अज्ञेय की कहानियाँ पाठक को झकझोरती, उद्‌बुद्ध करती और उसकी अपनी पहचान बनाने के लिए तैयार करती हैं। 'जयदोल', 'कोठरी की बात', 'रोज', 'परम्परा', 'द्रोही', 'शरणदाता', 'विपथगा' आदि कहानियाँ उनके गूढ़ चिन्तन, मनोवैज्ञानिक चित्रण और विद्रोही स्वभाव का परिचय देने में सक्षम हैं।

मार्क्सवादी एवं मनोविश्लेषणवादी कहानीकारों के बीच कुछ ऐसे भी कहानीकार थे जिनकी अपनी स्वतंत्र राह थी जैसे **भगवती चरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ 'अश्क'**। भगवती चरण वर्मा ने 'दो बाँके', 'मुगलों ने

सल्तनत बख्श दी', 'प्रायश्चित', 'इन्सटालमेंट', 'दो पहलू' जैसी व्यंग्यप्रधान कहानियों की रचना करके अपने समय के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की भूलों-त्रुटियों की जमकर खिल्ली उड़ाई। 'अश्क' ने 'वह मेरी मंगेतर थी', 'काले साहब', 'कांकड़ा का तेली', 'बैगन का पौधा', 'पिंजरा' जैसी कहानियों के माध्यम से सामाजिक यथार्थ की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति की, साथ ही आदर्श और यथार्थ की एक साथ व्यंजना करके प्रगतिशील जीवन-दृष्टि को प्रस्तुत करने का कार्य किया लेकिन उनके पास न तो यशपाल की तरह समृद्ध राजनीतिक चेतना थी, न ही अज्ञेय या जैनेन्द्र की तरह मनोवैज्ञानिक जटिलताओं के प्रति वैसा आग्रह। वे इन दोनों धाराओं के बीच झूलते रहे। इन्हीं कहानीकारों के साथ छायावाद के महत्वपूर्ण कवियों - **महादेवी वर्मा, निराला, पंत** - ने भी कहानियाँ लिखीं जिनमें निराला की ही कहानियाँ अपनी प्रगतिशील चेतना के कारण चर्चा के योग्य बन सकीं। महादेवी वर्मा की कहानियों ने संस्मरण और रेखाचित्र का रूप ग्रहण कर लिया।

20.2.4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी

प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी के कई रचनाकार स्वातंत्र्योत्तर काल में भी रचनारत रहे और उन्होंने हिन्दी कहानी को नई गति और दिशा देने में अपना रचनात्मक सहयोग भी दिया किन्तु सन् 1947 में आजाद हुए भारत में कहानीकारों की जो नई पीढ़ी तैयार हुई उसने हिन्दी कहानी के वस्तु, शिल्प और संचेतना में व्यापक परिवर्तन उपस्थित कर दिया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से अब तक हिन्दी कहानी का त्वरित एवं अनेकायामी विकास हुआ है; कई छोटे-बड़े कहानी-आंदोलनों के बीच से गुजरती हुई हिन्दी कहानी आज जिस मुकाम पर पहुँची है, उसे देखते हुए कहना पड़ता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी अपने समय और समाज के साथ चलती हुई निरन्तर अपने को नये रूप-रंग में ढालती रही है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी कहानी में कई आंदोलन चले। 'नयी कहानी', 'सचेतन कहानी', 'अकहानी', 'सहज कहानी', 'सक्रिय कहानी', 'समान्तर कहानी' और 'जनवादी कहानी' के नाम से समय-समय पर उठने वाले कहानी-आंदोलनों ने हिन्दी कहानी को नई समृद्धि, दृष्टि और कलात्मक ऊँचाई भी दी है और संकीर्णताओं, अविचारित आग्रहों और स्वार्थों के कारण उसे क्षति भी पहुँचाई है। इन सब बातों का लेखा-जोखा इन कहानी-आंदोलनों के स्वतंत्र विवेचन के आधार पर ही किया जा सकता है।

नयी कहानी : आन्दोलन की शुरुआत

स्वतंत्रता-प्राप्ति तक हिन्दी में कोई कहानी-आंदोलन नहीं चला था । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 'नयी कहानी' के रूप में एक ऐसा कहानी-आंदोलन चला जिसने कहानी के पारंपरिक प्रतिमानों को नकार दिया और अपने मूल्यांकन के लिए नई कसौटियाँ निर्धारित कीं।

जाहिर है कि स्वतंत्रता मिल जाने पर भारतीय मानस में एक नयी चेतना, नये विश्वास और नयी आशा-आकांक्षा का जन्म हुआ। उसे एक बदला हुआ यथार्थ मिला जिसने सामाजिक संबंधों, मूल्यों, मान्यताओं और आदर्शों को नया संदर्भ प्रदान किया। 'नयी कहानी' के आन्दोलनकारियों ने, जिसमें राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर के नाम प्रमुख हैं - इस बदले हुए यथार्थ और नये अनुभव-संबंधों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति पर बल दिया। नये कहानीकारों ने 'परिवेश की विश्वसनीयता', 'अनुभूति की प्रामाणिकता' और 'अभिव्यक्ति की ईमानदारी' का प्रश्न उठाया और आग्रह किया कि 'नयी कहानी' अपने युग-सत्य से सीधे जुड़ी हुई है जिसका मूल उद्देश्य है पाठक को उसके समकालीन यथार्थ से यथार्थ रूप में परिचित कराना। फणीश्वरनाथ रेणु, धर्मवीर भारती, मार्कण्डेय, अमरकान्त, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा, मन्नू भण्डारी, शानी, ऊषा प्रियंवदा, हरिशंकर परसाई, शैलेश मटियानी जैसे कहानीकारों ने अपने युगीन यथार्थ की मार्मिक एवं प्रामाणिक अभिव्यक्ति करके 'नयी कहानी' के आन्दोलन को तीव्र किया। राजेन्द्र यादव ने 'एक दुनिया : समानान्तर' नामक पुस्तक का संपादन करके 'नयी कहानी' का एक प्रामाणिक संग्रह प्रस्तुत किया। इस संग्रह में जो कहानियाँ संकलित की गई हैं उनके नाम हैं - 'जिन्दगी और जोंक' (अमरकान्त), 'मछलियाँ' (ऊषा प्रियंवदा), 'मेरा दुश्मन' (कृष्ण बलदेव वैद), 'बादलों के घेरे' (कृष्णा सोबती), 'खोयी हुई दिशाएँ, (कमलेश्वर), 'गुलकी बन्नो' (धर्मवीर भारती), 'परिन्दे' (निर्मल वर्मा), 'सामान' (प्रयाग शुक्ल), 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुल्फाम' (फणीश्वरनाथ रेणु), 'चीफ की दावत' (भीष्म साहनी), 'सही सच है' (मन्नू भण्डारी). 'दूध और दवा' (मार्कण्डेय), 'एक और जिन्दगी' (मोहन

राकेश), 'विजेता' (रघुवीर सहाय), 'शबरी' (रमेश बक्षी), 'टूटना' (राजेन्द्र यादव), 'सेलर' (राम कुमार), 'एक नाव के यात्री' (शानी), 'नन्हों' (शिव प्रसाद सिंह), 'बदबू' (शेखर जोशी), 'प्रेतमुक्ति' (शैलेश मटियानी), 'भोलाराम का जीव' (हरिशंकर परसाई)। इस सूची से यह सहज रूप से जाना जा सकता है कि 'नयी कहानी' के आन्दोलन के साथ कई बड़े हस्ताक्षर प्रकाश में आये। आगे चलकर उनमें से अनेक ने अपने विशिष्ट रचना-शिल्प के आधार पर अपनी अलग पहचान बनाई, जैसे 'रेणु' को आंचलिक कथाकार के रूप में ख्याति मिली तो अमरकान्त मध्यवर्ग के दुःख-सुख, शोषण-अन्याय के मार्मिक कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए, और निर्मल वर्मा शहरी जीवन के अकेलेपन, ऊब, संत्रास और कुंठा को विशिष्ट गद्य में रचने वाले अनूठे कहानीकार प्रमाणित हुए।

'नयी कहानी' के साथ जुड़ा 'नयी' शब्द पहले की कहानी से मात्र पार्थक्य स्पष्ट करने के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ, बल्कि उसके पीछे कहानी की नयी संवेदना, नयी दृष्टि और नये रूपबंध को रेखांकित करने की भावना थी । सन् 1950 के बाद देश विकास की ओर अग्रसर होता प्रतीत हुआ। अनेक नये विश्वविद्यालयों और कॉलेजों की स्थापना हुई, सड़कों, पुलों और परिवहन की नई सुविधाओं का विकास हुआ, अनेक नये विभागों का निर्माण हुआ, देश के त्वरित एवं सर्वांगीण विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं, औद्योगिकीकरण और मशीनीकरण की गति तीव्र हुई, समाज में स्त्री-पुरुष को शिक्षा और नौकरी के लिए समान अवसर उपलब्ध हुए, घर की चहारदीवारी में बन्द स्त्री कार्यालयों में काम करने के लिए उन्मुक्त हुई। इन सब स्थितियों से भारतीय जीवनधारा में एक नयी हलचल और गति का समावेश हुआ। यह प्रभाव और परिवर्तन वैसे तो हर क्षेत्र और हर वर्ग पर पड़ा लेकिन भारतीय समाज का मध्यवर्ग इससे सीधे और गहराई तक प्रभावित हुआ। स्वतंत्रता के मिल जाने से सामाजिक जिन्दगी में काफी उथल-पुथल हुई, पुराने रिश्ते-नाते टूटे-बिखरे, परिवार का परम्परागत ढाँचा जो प्रेमचंद के समय से ही चरमरा रहा था, बुरी तरह बिखर गया। स्त्री-पुरुष की स्थिति और संबंधों में परिवर्तन आया, स्वतंत्रता ने युगों से दलित स्त्री को पुरुष की ही भाँति खाने-कमाने की आजादी दी, समाज के विभिन्न वर्गों में नयी चेतना विकसित हुई, अब तक जो दलित-शोषित था उसे सिर उठाकर चलने का वातावरण मिला और सरकार बनाने में उसे भी बराबर का मताधिकार मिला। 'नयी कहानी' ने इन सारे परिवर्तित-विघटित होते हुए संबंधों एवं मूल्यों को बड़ी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त करने का जोखिम उठाया। महानगरीय, कस्बाई एवं ग्रामीण जीवन-बोध, यथार्थ-चित्रण, ऐतिहासिक मोहभंग, मध्यवर्गीय जीवन का मार्मिक अंकन, सामाजिक एवं पारिवारिक संबंधों के बिखराव और निर्मिति की सही पहचान, नवीन भाषा-शिल्प आदि नयी कहानी की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। मोहन राकेश ने 'मलबे का मालिक', 'मिसपाल', 'आर्द्रा', राजेन्द्र यादव ने 'खेल खिलौने', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', कमलेश्वर ने 'राजा निरबंसिया', 'दिल्ली में एक मौत', ऊषा प्रियंवदा ने 'वापसी', भीष्म साहनी ने 'चीफ की दावत' जैसी कहानियों को लिखकर स्वातंत्र्योत्तर भारत के नगरीय जीवनबोध को ईमानदारी के साथ चित्रित किया। 'रेणु' जैसे रचनाकारों ने 'तीसरी कसम', 'लालपान की बेगम', 'रसप्रिया' जैसी कहानियों के माध्यम से अंचल विशेष की आशा-आकांक्षा और व्यथा-कथा को नये भाषा-शिल्प में प्रस्तुत करके आंचलिक कथा-लेखन का मार्ग प्रशस्त किया। 'नयी कहानी' में स्थूल कथानकों के स्थान पर सूक्ष्म कथा-तन्तुओं को प्रधानता मिली, सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता और बिम्बात्मकता का प्राधान्य हुआ। नये कहानीकारों ने कहानी का नया आलोचना-शास्त्र तैयार करने की पहल की, और नामवर सिंह ने 'कहानी : नयी कहानी' पुस्तक के माध्यम से 'नयी कहानी' के मूल्यांकन की कसौटियों को रेखांकित किया। हिन्दी की समूची कहानी-यात्रा में 'नयी कहानी' का आन्दोलन सशक्त और प्रभावशाली आन्दोलन रहा है।

सचेतन कहानी, अकहानी और सहज कहानी

सन् 1950 के आस-पास 'नयी कहानी' नये मूल्यों, नये जीवन-बोध, नये शिल्प और नये अनुभव-संसार की प्रामाणिक अभिव्यक्ति करने का जो संकल्प लेकर चली, वह सन् 1960 तक आते-आते पुराना पड़ गया और यह कहानी भी अपनी रूढ़ियों में फँसकर एक प्रकार से निस्तेज हो गयी। इसका एक कारण यह भी था कि 'नयी कहानी' स्वतंत्रता-प्राप्ति के जिस नये वातावरण में नयी चुनौतियों के बीच पनपी थी, वे समाप्त हो गयीं और देश तथा समाज आपनी असफलताओं, कमियों और असमर्थताओं का बुरी तरह शिकार हो गया। स्वतंत्रता-प्राप्ति को लेकर उसके मन में जो सपने थे, वे सातवें दशक के आरंभिक वर्षों में ही चकनाचूर हो गये, पंचवर्षीय योजनाओं और पंचशील सिद्धान्तों का अपेक्षित फल नहीं मिला। एक प्रकार से

जनता को ऐतिहासिक मोहभंग की पीड़ा झेलनी पड़ी। राजनीतिक उठा-पटक, दलबन्दी, नये-नये दलों का निर्माण, दलों का टूटना-बिखरना, राजनीतिक आदर्शों-मर्यादाओं का छिन्न-भिन्न होना आदि जो राजनीतिक परिदृश्य सामने आया, उसने साहित्य-जगत् को भी प्रभावित किया। साहित्यकारों में भी आनन-फानन में चर्चित-प्रतिष्ठित हो जाने और उसके लिए अपना एक नया शिविर बना लेने या तोड़फोड़ करके नया साहित्यिक दल गठित कर लेने की प्रवृत्ति बलवती हो उठी। इस सबके चलते सातवें दशक में हिन्दी कहानी में दो-तीन वर्षों के अंतराल पर और कभी-कभी समानान्तर छोटे-मोटे कहानी-आन्दोलन शुरू हुए। इतना अवश्य है कि इन आन्दोलनों के बीच से हिन्दी को कुछ अच्छे कहानीकार भी प्राप्त हुए।

सचेतन कहानी

'नयी कहानी' की आत्मपरकता और रूपवादी प्रवृत्ति के विरोध में 'सचेतन कहानी' का आन्दोलन चलाया डॉ० महीप सिंह ने। सन् 1964 में उन्होंने 'आधार' पत्रिका का 'सचेतन कहानी विशेषांक' निकाला जिसमें उन्होंने लिखा - 'सचेतनता एक दृष्टि है जिसमें जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है। .... सचेतनता जीवन की उस सक्रियता की बोधक है जिसमें मनुष्य को सर्वांग और संपूर्ण रूप में देखने की भावना को दरसाने की भरसक कोशिश होती है।' इस प्रकार 'सचेतन कहानी' सक्रिय भाव-बोध की कहानी है। इसका संबंध जर्मनी के 'एक्टिविस्ट मूवमेण्ट' से भी है। डॉ० महीप सिंह के अनुसार - सचेतन दृष्टि आधुनिक दृष्टि है और आधुनिकता एक गतिशील स्थिति है जो हमारे सक्रिय जीवन-बोध पर निर्भर है। आधुनिकता नवीन परिस्थितियों के संदर्भ में अपना संस्कार करती रहती है और संस्कारित परिस्थितियों को अनुभूति की संपृक्ति से चित्रित करना सचेतन कहानी की विशेषता है।'

सचेतन कहानी को गति देने वाले कथाकारों में महीप सिंह के अलावा मनहर चौहान, कुलदीप बग्गा, नरेन्द्र कोहली, वेदराही, श्रवण कुमार, योगेश गुप्त, हेतु भारद्वाज, राम दरश मिश्र, जगदीश चतुर्वेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। महीप सिंह की 'उजाले के उल्लू', 'स्वराघात', जगदीश चतुर्वेदी की 'अधखिले गुलाब', मनहर चौहान की 'बीस सुबहों के बाद' और सुरेन्द्र अरोड़ा की 'बर्फ' जैसी कहानियाँ 'सचेतन कहानी' का स्वरूप स्पष्ट करती हैं। 'सचेतन कहानी' की मुख्य विशेषता यह है कि इसने सचेत रूप से जीवन में सक्रियता, आशा, आस्था और संघर्ष का भाव संचारित करने पर बल दिया और प्रतिगामी मनोदशाओं का निषेध किया। उल्लेखनीय यह है कि 'सचेतन कहानी' का आन्दोलन 'आधार' और 'संचेतना' पत्रिका के माध्यम से चर्चित हुआ और इन्हीं में प्रकाशित कुछ लेखकों की कहानियों तक ही सीमित रह गया।

अकहानी

सन् 1960 के बाद राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय जीवन के बदले हुए घटनाक्रमों ने जो मोहभंग का दृश्य प्रस्तुत किया उसे 'नयी कहानी' की चेतना संभाल न सकी। 'नयी कहानी' खुद अपनी ही रूढ़ियों में फँस गयी, फलत: 'अ-कहानी' का स्वर तीव्र हुआ जिसकी मूल संकल्पना थी - " 'नयी कहानी' के भोगे हुए यथार्थ, अनुभव की प्रामाणिकता और प्रतिबद्धता जैसे खोखले नारों के खिलाफ एक सशक्त कार्यवाही।'' इस कहानी पर फ्रांस की 'एण्टी स्टोरी' और अस्तित्ववादी चिन्तक सार्त्र और कामू के विचार-दर्शन का प्रभाव था। 'अकहानी' के लेखकों ने नकार या अस्वीकार का दर्शन स्वीकार किया। यह कथा के स्वीकृत आधारों का निषेध तथा किसी भी तरह की मूल्य-स्थापना के अस्वीकार का संकल्प लेकर आगे बढ़ी और इसमें बड़ी तन्मयता के साथ उस समय के मनुष्य की पीड़ा, संत्रास, कुण्ठा, व्यर्थताबोध, अजनबीपन, नगण्यताबोध आदि का चित्रण करके अपनी यथार्थ चेतना को नये परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया।

वास्तव में यह वह कालखण्ड था जब हर क्षेत्र में पुराने जीवन-मूल्य बुरी तरह टूटने-बिखरने लगे थे, लोगों की हताशा-निराशा बढ़ने लगी थी और वे रोजी-रोटी की तलाश में हर तरह से हार-थक कर कुंठित और क्षुब्ध होने लगे थे। इसी समय हिन्दी कविता में भी 'अकविता' का स्वर तीव्र हुआ था। 'अकहानी' और 'अकविता' को सगोत्रीय मानना चाहिए।

जगदीश चतुर्वेदी, श्रीकांत वर्मा, राजकमल, चौधरी, प्रबोध कुमार, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, प्रयाग शुक्ल, महेन्द्र भल्ला, मुद्राराक्षस, गंगाप्रसाद विमल जैसे अनेक कहानीकारों

ने तत्कालीन यथार्थ का चित्रण करते हुए ऐसी कहानियाँ लिखीं जो उस समय के मनुष्य की पीड़ा, हताशा, निराशा, ऊब, घुटन, परेशानी और व्यर्थताबोध के साथ-साथ मूल्य-विघटन की त्रासदी का मार्मिक साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। श्रीकांत वर्मा की 'झाड़ी', 'शवयात्रा', दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात', 'आइसबर्ग', रवीन्द्र कालिया की 'सिर्फ एक दिन' जैसी कहानियाँ उपर्युक्त तथ्यों की पड़ताल के लिए पढ़ी जा सकती हैं। अकहानीकारों ने कुंठित, हताश और संत्रस्त मनुष्य के यथार्थ का चित्रण करते हुए अपनी दृष्टि काम-सम्बन्धों पर इस तरह टिकायी कि अकहानी अस्वस्थ मनोविज्ञान का पुलिंदा बन गई। इन कहानीकारों ने काम-कुंठाओं और काम-विकृतियों का चित्रण करते हुए उन्मुक्त यौन-संबंधों की वकालत की जिससे तिलमिलाकर कमलेश्वर ने 'ऐयाशों का प्रेत-विद्रोह' नामक लेख लिखा (धर्मयुग) और हिन्दी कहानी को 'जाँघों के जंगल में' भटकी हुई कहकर भर्त्सना की। राजकमल चौधरी की कहानियों की आधी से अधिक दुनिया आवारा, पेशेवर, बाजारू औरतों की दुनिया है और उनके पुरुष भी उसी धंधे की जरूरतों को पूरा करने वाले लोग हैं। उनकी 'अग्नि स्थान', 'जलते हुए मकान में कुछ लोग', 'व्याकरण का तृतीय पुरुष' और 'एक अजनबी के लिए एक शाम' कहानियों की स्त्रियाँ इसी प्रकार की हैं। उनकी इस चेतना में अकहानी आन्दोलन की सीमाओं का संकेत स्पष्ट रूप से विद्यमान है। जगदीश चतुर्वेदी की कहानियों में भी असामान्य यौनेच्छा और यौनावेग को प्रमुखता मिली है।

अकहानी ने कहानी के शिल्प में कुछ नये प्रयोग किये जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। इन कहानियों में कथा-तत्व नहीं के बराबर है, घटनाएँ और ब्यौरे भी असत्य हैं। कहानी में सूक्ष्मता को बल मिला है। इन सबका प्रभाव यह पड़ा है कि हिन्दी कहानी उत्तरोत्तर जटिल और दुर्बोध होती गई है और उससे कथारस गायब हो गया है।

सहज कहानी

अमृतराय ने कहानी में कोई आन्दोलन खड़ा करने या किसी प्रकार का नाम उछालने की गरज से नहीं, अपितु कहानी को सहज बनाने या कहानी की खोयी हुए 'सहजता' को फिर से सहेजने के उद्देश्य से 'सहज कहानी' का विचार प्रस्तुत किया। उन्होंने सहजता की व्याख्या करते हुए लिखा - "मोटे रूप में इतना ही कह सकते हैं कि सहज वह है जिसमें आडम्बर नहीं है, बनावट नहीं है, ओढ़ा हुआ मैनरिज़्म या मुद्रा-दोष नहीं है, आइने के सामने खड़े होकर आत्मरति के भाव से अपने ही अंग-प्रत्यंग को अलग-अलग कोणों से निहारते रहने का प्रबल मोह नहीं है, किसी का अंधानुकरण नहीं है।" सादगी के सौन्दर्यशास्त्र को अपनी कहानियों से प्रत्यक्ष करने वाले महान कथाकार प्रेमचंद के सुपुत्र अमृतराय का सहज कहानी की आवश्यकता पर बल देना सहज एवं स्वाभाविक है। उनकी इस धारणा से आन्दोलन भले ही न खड़ा हुआ हो लेकिन कहानी में सहजता की वकालत को कम करके नहीं आँका जा सकता है।

समान्तर कहानी

'सचेतन कहानी' और 'अकहानी' के बाद 1947 ई० में 'समान्तर कहानी' का आन्दोलन चला जिसके अगुआ थे 'नयी कहानी' के सशक्त हस्ताक्षर और 'सारिका' पत्रिका के सम्पादक कमलेश्वर। यह वह समय था जब देश में चारों तरफ जनान्दोलनों का बोलबाला था, जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में 'समग्र क्रांति' का नारा बुलंद था, आम आदमी पूँजीवादी शक्तियों के चंगुल में फँसा कराह रहा था और जनवादी ताकतों को कुचलने के लिए श्रीमती इंदिरा गांधी पूरी तरह कटिबद्ध थीं। 'सारिका' के 'समान्तर कहानी - विशेषांक-1' में कमलेश्वर ने 'मेरा पन्ना' स्तम्भ के अन्तर्गत 'इतिहास के नंगे हो जाने', 'आम आदमी के द्विविधा रहित होकर संघर्ष के लिए सन्नद्ध हो जाने, 'जीने के तमाम साधनों और स्रोतों पर' पूँजी का प्रभुत्व हो जाने, और 'नंगे इतिहास' के द्वारा हमारी 'निष्क्रियता' और 'अन्यमनस्कता' का फायदा उठाकर हमें छलते जाने का एहसास कराकर कहानीकारों को 'आम आदमी' की पीड़ा और उसके संघर्ष को मुखरित करने का आह्वान किया। उन्होंने 'समान्तर कहानी ' विशेषांक-1' में भीष्म साहनी की 'वाङ्.चू', से० रा० यात्री की 'अँधेरे का सैलाब', हृदयेश की 'गुंजलक', मणि मधुकर की 'विस्फोटक', श्रवणकुमार की 'नहीं, यह कोई कहानी नहीं', जैसी कहानियों को प्रकाशित करके समान्तर कहानी-आन्दोलन की शुरुआत की। इसके बाद उन्होंने 'सारिका' के समान्तर कहानी-विशेषांक के रूप में विभिन्न भाषाओं की समान्तर कहानियों के विशेषांक निकाले, देश भर में 'समान्तर कहानी' पर गोष्ठियाँ आयोजित कीं और एक लम्बे विचार-विमर्श का दौर चलाकर समान्तर कहानी को अखिल भारतीय आन्दोलन का रूप देने का प्रयत्न किया। हिन्दी में

गोविन्द मिश्र, कामतानाथ, जितेन्द्र भाटिया, सुधा अरोड़ा, मधुकर सिंह, इब्राहीम शरीफ, हिमांशु जोशी, मिथिलेश्वर, राकेश वत्स, स्वदेश दीपक आदि कहानीकारों ने इस आन्दोलन को तीव्र करने में अपना रचनात्मक सहयोग प्रदान किया। 'जाने किस बन्दरगाह पर' (सतीश जायसवाल), 'छुट्टी का एक दिन' (अकुलेश परिहार), 'सौदा' (पाल भसीन), 'जोखिम', 'बयान' (कमलेश्वर), 'शहादतनामा' (जितेन्द्र भाटिया) आदि कहानियाँ आम आदमी के संघर्ष को जीवन की समग्रता में देखती हैं और यह भी प्रमाणित करती हैं कि नया युग नये प्रश्नों का सामना कर रहा है। इन कहानियों में संघर्षरत मनुष्य बराबर नये मूल्यों की स्थापना की दिशा में भी सक्रिय है। समान्तर कहानी की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि उसने भावुक रुचि में कैद लोगों के सामने आम आदमी की तकलीफों को उजागर करने वाली कहानियाँ बदले हुए तेवर के साथ प्रस्तुत कीं।

समान्तर कहानी आन्दोलन ने इतना तो किया ही कि भारतीय कथा-साहित्य में पुन: आम आदमी को प्रतिष्ठित किया, उसके प्रति जागरूकता पैदा की और कहानी को आम आदमी के संघर्ष से जोड़कर नयी हलचल पैदा की।

सक्रिय कहानी

राकेश वत्स ने अपनी पत्रिका 'मंच-79' के माध्यम से 'सक्रिय कहानी' का आन्दोलन खड़ा किया जिसमें चित्रा मुद्गल, रमेश बत्तरा, वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता, स्वदेश दीपक आदि ने योग दिया। राकेश वत्स ने 'सक्रिय कहानी' की अवधारणा पर प्रकाश डालते हुए लिखा - 'सक्रिय कहानी का सीधा और स्पष्ट मतलब है - आम आदमी की चेतनात्मक ऊर्जा और जीवन्तता की कहानी। उस समझ, एहसास और बोध की कहानी जो आम आदमी की बेबसी, वैचारिक निहत्थेपन और नपुंसकता से निजात दिलाकर पहले स्वयं अपने अन्दर की कमजोरियों के खिलाफ खड़ा होने के लिए तैयार करने की जिम्मेदारी अपने सिर लेती है।' इस तरह सक्रिय कहानी के केन्द्र में 'समान्तर कहानी' का ही 'आम आदमी' है किन्तु वह यहाँ अपने संघर्ष में सक्रिय और संगठित है। 'उसका फैसला' (सुरेन्द्र सुकुमार), 'जंगली जुगराफिया' (रमेश बत्तरा), 'आखिरी मोड़' (कुमार संभव), 'काले पेड़' (राकेश वत्स), 'एक न एक दिन' (नवेन्द्र), 'लोग हाशिए पर' (धीरेन्द्र अस्थाना) आदि कहानियों में यह संघर्ष काफी उभर कर सामने आया है। सक्रिय कहानी के संघर्षरत पात्र जनसमर्थन मूल्यों के पक्षधर हैं। शोषण से मुक्ति पाना उनके संघर्ष का चरम फल है। यह कहानी-आन्दोलन भी अल्पकाल में समाप्त हो गया क्योंकि इसमें वैचारिकता का दंभ अधिक था, रचनात्मकता का आग्रह एकदम नहीं था।

जनवादी कहानी

सन् 1982 में दिल्ली में 'जनवादी लेखक संघ' की स्थापना और उसके राष्ट्रीय अधिवेशन के साथ ही हिन्दी में जनवादी लेखन को तीव्रता प्राप्त हुई। इसके बाद जनवादी कहानी पर 'कलम' (कलकत्ता), 'कथन (दिल्ली), 'उत्तरगाथा' (दिल्ली), 'उत्तरार्ध' (मथुरा), 'कंक' (रतलाम) जैसी पत्रिकाओं में व्यापक रूप से चर्चा शुरू हो गई। जब हम हिन्दी कहानी में जनवादी कहानी आन्दोलन की बात करते हैं तो हमें 1982 के 'जनवादी लेखक संघ' के स्थापना काल को ही इसका उदय काल मानना पड़ता है। इस तथ्य के बावजूद यह स्वीकार करना चाहिए कि जनवादी कहानी आन्दोलन अन्य आन्दोलनों की तरह सहसा नहीं उठ खड़ा हुआ था। एक लम्बे अर्से से उसकी पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। इस पृष्ठभूमि के निर्माण में प्रेमचंद की जनपक्षधरता, यशपाल (परदा), रांगेय राघव (गदल), भैरव प्रसाद गुप्त (हड़ताल), मार्कण्डेय (हंसा जाई अकेला), भीष्म साहनी (चीफ की दावत), अमरकान्त (दोपहर का भोजन), शेखर जोशी (कोसी का घटवार) की प्रगतिशीत रचनात्मकता, 'समान्तर कहानी' के आम आदमी की स्थापना और उसका संघर्ष तथा तत्युगीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों का बहुत बड़ा योगदान है।

जनवादी कहानी अपनी मूल प्रकृति में सामान्य जन के संघर्ष की पक्षधर है तथा उसका वैचारिक आधार मार्क्सवाद है। वह प्रेमचंद की जनपक्षधर कथा-परम्परा का विकास है। मध्यवर्ग और सर्वहारा के बीच निकटता अनुभव करना प्रेमचंद की ऐतिहासिक समझ का परिणाम था। जनवादी कहानी का सर्वाधिक बल सर्वहारा तथा मध्यवर्ग द्वारा किये जा रहे शोषण-विरोधी संघर्ष पर है। यह संघर्ष बहुआयामी है। जनवादी कहानी में संघर्षरत पात्र निर्णय लेने की स्थिति में हैं। वे अपने अधिकारों के प्रति पूर्ण सजग और संघर्षरत

हैं। जनवादी कहानी की मूल प्रवृत्ति श्रमजीवी के प्रति सहानुभूति है। वह श्रमजीवी जनता के हक की लड़ाई की पक्षधर है। पूँजीवादी ताकतों को बेनकाब करना, उनके मसूबों को विफल करना, शोषण-तंत्र को लुंज-पुंज करना और मेहनतकश जनता को एकजुट करके निर्णायक संघर्ष की ओर ले जाना आदि कुछ मूलभूत वे बातें हैं जो किसी कहानी को जनवादी कहानी का रूप प्रदान करती हैं। जनसमस्याओं और जनजीवन के संघर्ष से जुड़ी होने के कारण जनवादी कहानी जनता की सीधी-सादी भाषा और सहज शिल्प को अधिक महत्व देती है। जनवादी कथाकार **असगर वजाहत** लिखते हैं – 'चारों ओर जो जीवन बिखरा है वही कहानी का मसाला है। पात्रों की कमी नहीं है। शिल्प के लिए परेशान होने की जरूरत नहीं है। कथ्य का अपना शिल्प होता है, उसी को रखते चले जाओ। किसी प्रकार का चमत्कार दिखाना कहानी का कार्य नहीं है।' तात्पर्य यह कि जनवादी कहानी आम आदमी या सामान्य जन की संघर्ष-गाथा को उसी की भाषा और शैली में चित्रित करने को महत्वपूर्ण मानती है।

जनवादी कहानी को अपनी रचनात्मकता से गति देने वाले रचनाकारों में रमेश उपाध्याय (देवी सिंह कौन, कल्पवृक्ष), रमेश बतरा (कत्ल की रात, जिंदा होने के खिलाफ), स्वयं प्रकाश (आस्मां कैसे-कैसे, सूरज कब निकलेगा), हेतु भारद्वाज (सुबह-सुबह, अब यही होगा), नमिता सिंह (राजा का चौक, काले अंधेरे की मौत), असगर वजाहत (हिन्दी पहुँचना है, मछलियाँ), उदय प्रकाश (मौसा जी, टेपचू), राजेश जोशी (सोमवार, आलू की आँख), धीरेन्द्र अस्थाना (लोग हाशिये पर, सूरज लापता है), विजयकांत (ब्रह्मफांस, बलैत माखुन भगत, बान्ह, जाग), मदन मोहन (बच्चे बड़े हो रहे हैं, दारू) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

20.3 समकालीन हिन्दी कहानी : दशा एवं दिशा

समकालीन हिन्दी कहानी से तात्पर्य उस कहानी से है जो आज की परिस्थितियों का साक्षात्कार करती है और बिना किसी पूर्वाग्रह के समय के सच को पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित करती है। इस संदर्भ में मधुरेश का यह वक्तव्य विचारणीय है - 'समकालीन होने का अर्थ सिर्फ समय के बीच होने से नहीं है। समकालीन होने का अर्थ है समय के वैचारिक और रचनात्मक दबावों को झेलते हुए, उनसे उत्पन्न तनावों और टकराहटों के बीच अपनी सर्जनशीलता द्वारा अपने होने को प्रमाणित करना।' कुछ लोगों ने समकालीन हिन्दी कहानी के रूप में एक कहानी-आन्दोलन को भी रेखांकित करने की कोशिश की है किन्तु वास्तविकता यह है कि समकालीन कहानी, आन्दोलन की संकीर्णताओं से उबर चुकी है। अभी तक हिन्दी कहानी के विविध आन्दोलनों की जो चर्चा की गई है, उससे यह साफ तौर पर स्पष्ट होता है कि उनमें से अधिकांश आन्दोलन कुछ यशोलिप्सु लेखकों की आत्मविज्ञप्ति और आत्मस्थापन की संकीर्ण मानसिकता से उपजे थे और उनकी तुष्टि के बाद वे समाप्त हो गये । समकालीन लेखक आन्दोलन के उन खतरों और सीमाओं से वाकिफ है, इसलिए वह स्वतंत्र रीति से साहित्य-साधना को प्रश्रय दे रहा है किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि कथा-लेखन की दुनिया से वैचारिक प्रतिबद्धता को विदाई मिल गई है या लेखक आत्मसीमित हो गया है। दरअसल इस समय हिन्दी कहानी में कई पीढ़ियों और कई कहानी - आन्दोलनों से जुड़े ऐसे कहानीकारों की पीढ़ी मौजूद है जिसमें वैचारिक कठमुल्लापन नहीं रह गया है।

समकालीन कथा-परिदृश्य में पिछले कहानी-आन्दोलनों से जुड़े रचनाकारों के अलावा अनके नये कहानीकार सृजनरत हैं जैसे - संजय (कामरेड का कोट, भगदत्त का हाथी), उदय प्रकाश (दरियाई घोड़ा, तिरिछ, और अन्त में प्रार्थना), ज्ञान प्रकाश विवेक (जोसफ चला गया, मुंडेर, कमीज), अब्दुल बिस्मिल्लाह (रैन बसेरा, अतिथि देवो भव), रमेश उपाध्याय (नदी के साथ, जमी हुई झील), स्वयं प्रकाश (मात्रा और भार, सूरज कब निकलेगा), शिवमूर्ति (कसाईबाड़ा, तिरिया चरित्तर), मदन मोहन (दलदल, हारू, फिर भी सूखा), बादशाह हुसैन रिजवी (भय टूटता हुआ) आदि। इनके अतिरिक्त नयी कहानी के दौर की प्रमुख लेखिकाओं - मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा तथा समान्तर कहानी से जुड़ी लेखिकाओं - दीप्ति खण्डेलवाल, निरुपमा सेवती - के साथ-साथ आठवें-नवें दशक से अपनी रचनात्मकता को प्रकाशित करने वाली मृणाल पाण्डेय, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, राजी सेठ, मंजुल भगत, सुधा अरोड़ा, प्रभा खेतान के भी नाम उल्लेखनीय हैं जिनसे समकालीन हिन्दी कहानी का एक ऐसा परिदृश्य प्रत्यक्ष होता है जिसमें न तो वैचारिक जकड़बन्दी है, न सीमित जीवनानुभव पर आधारित कलाबाजी। आज का कहानीकार अपने समय के बृहत्तर सच को उसकी पूरी विविधता में चित्रित करने में लगा हुआ है। समकालीन जीवन पर

राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों - वैश्वीकरण, उदारीकरण, इलेक्ट्रानिक मीडिया से कई तरह के दबाव पड़ रहे हैं। उन दबावों को पहचानना और उनके बीच से जीवन का मार्ग तलाशना आज के कहानीकार की जिम्मेदारी है। कहना न होगा कि समकालीन कहानीकार अपने दायित्व के प्रति काफी सजग है।

20.4 हिन्दी कहानी में दलित चेतना

हाल के कुछ वर्षों से हिन्दी में भी दलित साहित्य का स्वर ऊँचा हुआ है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशरायं, डॉ० श्योराज सिंह 'बेचैन', डॉ० ए. एन. सिंह, कँवल भारती, डॉ० धर्मवीर प्रभृति अनेक दलित साहित्यकारों ने हिन्दी में दलित साहित्य की विशेष स्थिति और आवश्यकता को रेखांकित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि दलितों के द्वारा दलितों के जीवन पर लिखा गया साहित्य दलित साहित्य है। किसी गैर दलित या सवर्ण द्वारा लिखे गये दलित संबंधी साहित्य को वे दलित साहित्य मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में ऐसा साहित्य सहानुभूति या दया का साहित्य है, वह चाहे प्रेमचंद या निराला का ही दलित चेतना से जुड़ा हुआ साहित्य क्यों न हो। मोहनदास नैमिशराय का मानना है कि दलित साहित्य दलितों का ही हो सकता है क्योंकि उन्होंने जो नारकीय उपेक्षापूर्ण जीवन भोगा है, वह कल्पना की चीज नहीं है। वह उनका भोगा हुआ यथार्थ और जख्मी लोगों का दस्तावेज़ है। वह उनकी मुक्ति का संदेश है, वह चेतना का उगता हुआ सूरज है। उसमें गुस्सा और नफरत अनुभूति-प्रेरित है। उसे कला के छल की जरूरत नहीं है। श्योराज सिंह बेचैन मानते हैं कि दलित साहित्य का संबंध कबीर, रैदास जैसे दलितों के साहित्य से भी नहीं है और न व्यास और वाल्मीकि के साहित्य से। कबीर और रैदास उन्हें ईश्वर के सहारे छोड़ देते हैं और वाल्मीकि और व्यास तो ब्राह्मणवाद को ही मजबूत करते है। आज का दलित साहित्यकार अपने अनुभव से अपना रास्ता निकालने का हिमायती है, उसमें क्रोध नफरत, नकार और आत्मपहचान का तत्व प्रमुख है। वह इतिहास धारा में बहने के लिए नहीं, उसकी ज्यादतियों के विरुद्ध संघर्ष करने और उसे पलटने के लिए कटिबद्ध है। वह बाबा साहब अम्बेडकर और ज्योतिबा फुले का अनुयायी है।

यदि हिन्दी में केवल दलित कहानी की बात करें तो कहना पड़ता है कि इसका स्वरूप अभी पूरी तरह उभर नहीं पाया है बावजूद इसके कि जगह-जगह दलित लेखकों के संगठन बन गये हैं, उनके अनेक अधिवेशन हो चुके हैं और पत्र-पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। नाम परिगणन के लिए मोहनदास नैमिशराय, कँवल भारती, ओमप्रकाश वाल्मीकि, संजय खाती, दयानन्द वटरोटी, जयप्रकाश कर्दम के नाम उल्लेखनीय हैं। दयानन्द वटरोटी का कहानी संग्रह 'सुरंग', संजय खाती की कहानी 'रोजगार', ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'गोहत्या', 'अंधड़' आदि को पढ़ने के बाद यह कहना पड़ता है कि एक तो हिन्दी में दलित कहानी अभी शैशवावस्था में है, दूसरे सवर्ण लेखकों ने दलित चेतना की जो कहानियाँ लिखी हैं, वे भले ही उनका भोगा हुआ यथार्थ न हो, लेकिन दलित लेखक की कहानियों से ज्यादा मार्मिक और प्रभावशाली हैं। अत: दलित चेतना की पड़ताल अधिक सार्थक एवं समीचीन है। हिन्दी में दलित चेतना से जुड़ी हुई मार्मिक कहानियों की एक सुदीर्घ परम्परा है। इस परम्परा के अग्रणी लेखक हैं - प्रेमचंद। उनकी 'सद्गति', 'ठाकुर का कुँआ', 'दूध का दाम', 'बाबा जी का भोग', 'सवा सेर गेहूँ' और 'कफन' जैसी कहानियाँ आज भी सामाजिक विषमता, उत्पीड़न, शोषण और अमानवीय आचरण का जो रूप प्रस्तुत करती हैं, वह भोगे हुए यथार्थ के दलित लेखकों की कहानियों पर भारी पड़ता है। उन्होंने वर्ण-विभक्त समाज में दीन-हीन दलितों का पक्ष लेकर अपनी जनचेतना और जनपक्षधरता का जो सहज स्वाभाविक परिचय दिया है, वह हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि और उनकी बेमिसाल साहित्य साधना का ठोस उदाहरण है।

प्रेमचंदोत्तर कहानीकारों ने भी दलित जीवन से संबंधित स्मरणीय कहानियाँ लिखी हैं जैसे 'हलयोग' (मार्कण्डेय), 'अकालदण्ड' (शिवमूर्ति), 'बराबरी का खेल' (रमेश उपाध्याय), 'बच्चे बड़े हो रहे हैं' (मदन मोहन), 'प्रतिहिंसा' (मुद्राराक्षस), 'बगल में बहता सच' (महेश कटारे), 'धनीराम' (पुन्नीसिंह) आदि। इन कहानियों में न केवल दलित जीवन की त्रासदी और संघर्ष-कथा चित्रित है बल्कि अन्याय, शोषण उत्पीड़न और संहार के प्रति सक्रिय विरोध और विद्रोह भी अंकित है। इन लेखकों ने प्रेमचंद के आगे की यात्रा तय की है। उल्लेखनीय यह है कि यह सहानुभूति या दया का साहित्य नहीं है, यथार्थ का स्वीकार है और मानवता की दिशा में उठाया गया सही कदम है। इसे गैर दलित का लेखन कहकर उपेक्षित नहीं किया जा

सकता। दलित साहित्यकारों के इस तर्क में दम है कि भोगे हुए यथार्थ की ही अभिव्यक्ति प्रामाणिक एवं विश्वसनीय होती है, किन्तु इसके साथ यह भी सच है कि कोई वाल्मीकि ही क्रौंच की मर्मान्तक पीड़ा को अपने हृदय में महसूस करके उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति कर सकता है। यदि दलित लेखक भोगे हुए यथार्थ के साथ कलात्मक अभिव्यक्ति और बृहत्तर एवं वैविध्यपूर्ण जीवनानुभव के चित्रण की बात नहीं सोचेंगे तो सारा दलित लेखन परिपाटीबद्ध होकर एकांगी, एकरस और निष्प्राण हो जाएगा।

20.5 हिन्दी कहानी - शिल्प का विकास

हिन्दी कहानी के समूचे विकास-क्रम का अध्ययन करने के बाद यह रेखांकित करना भी आवश्यक है कि हिन्दी कहानी अपने समय के दबावों और जरूरतों के अनुसार अपने कथ्य और शिल्प में बराबर परिवर्तन और विकास करती रही है। प्रारंभिक हिन्दी कहानी के रचना-विधान में कलात्मक चेतना का उपयोग नहीं के बराबर है। उसका शिल्प लोक-कथा शिल्प के अधिक निकट, धार्मिक पौराणिक कथाशैली से अनुप्राणित और फारसी की मसनवी शैली की आख्यानक परम्परा से प्रभावित है। कथानक स्थूल, घटना-प्रधान, कुतूहलपूर्ण, कथा-शिल्प में आकस्मिकता या संयोगतत्व की प्रधानता और उद्देश्य में सपाट उपदेशात्मकता, नीतिपरकता तथा मनोरंजन की प्रमुखता है। 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के साथ हिन्दी कहानी के आधुनिक रूप का विकास होता है और इसमें तथा 'इंदु' में प्रकाशित कहानियों के शिल्प में कसाव आता है। 'उसने कहा था', 'पंचपरमेश्वर', 'ग्राम' जैसी कहानियों में हिन्दी कहानी का बदला हुआ शिल्प प्रत्यक्ष हुआ है। प्रेमचंद ने कहानी के प्रति सचेत दृष्टि का परिचय देते हुए उसे कल्पना-विलास और मनोरंजन के दायरे से निकाल कर 'चरित्र चित्रण', 'स्वाभाविक वर्णन', 'मनोवैज्ञानिक चित्रण' और 'संवेदनात्मकता' से जोड़ दिया। प्राचीन कहानीकार घटनाओं में कहानी का कुतूहलपूर्ण आरंभ और घटनाओं की निष्कर्षात्मक परिणति में कहानी की समाप्ति करता था। प्रेमचंद और प्रसाद की कहानियों ने घटनाओं के बीच से फूटती हुई अर्थपूर्ण संवेदना को चित्रित करने का प्रयत्न किया। प्रारंभ में प्रेमचंदयुगीन कहानी पर आदर्शवाद का गहरा प्रभाव रहा लेकिन स्वयं प्रेमचंद की 'पूस की रात', 'कफन' जैसी कहानियों में यह पूरी तरह समाप्त हो गया और कहानी यथार्थवादी शिल्प में ढल गयी। फिर भी प्रेमचंदयुगीन कहानी में इतिवृत्तात्मकता, घटनात्मकता, आदर्शवादिता, चरित्र की प्रधानता, उद्देश्यपरकता का प्रभुत्व बना रहा और कहानी के मूल्यांकन के लिए कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल एवं वातावरण, उद्देश्य जैसे तत्व आधार और प्रतिमान बने रहे। बाद में जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी की कहानियों के रचना-विधान में सूक्ष्मता, प्रतीकात्मकता, मनोवैज्ञानिकता, संश्लिष्टता का प्राधान्य हो गया और कहानी एक सरल रचना की अपेक्षा जटिल एवं संश्लिष्ट रचना हो गई। इस दौर की कहानी में वस्तु, चरित्र, वातावरण, संवेदना आदि तत्वों ने परस्पर मिलकर कहानी के रचना-विधान को काफी सघन कर दिया। इस समय की कहानी मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक यथार्थ को केन्द्र में रखकर विकसित हुई। मनोवैज्ञानिक कहानियों के रचना-विधान में जहाँ सूक्ष्मता, जटिलता और सांकेतिकता की प्रधानता रही, वहीं, यथार्थवादी कहानियों का शिल्प यथार्थपरक, सहज और संप्रेषणीयता से भरपूर रहा।

हिन्दी कहानी के वस्तु और शिल्प में व्यापक परिवर्तन 'नयी कहानी' वाले दौर में हुआ। इस कालखण्ड में हिन्दी कहानी पूरी तरह नयी हो गयी। पुरानी कहानी के लेखक (प्रेमचंद, जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि) के समक्ष कथा-रचना के समय कोई विचार, दर्शन, सामाजिक समस्या प्रधान रूप से रहती थी और वह तदनुकूल कहानी की रचना कर लेता था किन्तु 'नयी कहानी' के लेखक ने अनुभूत यथार्थ की प्रामाणिक और ईमानदार अभिव्यक्ति के साथ-साथ परिवेशगत वास्तविकता पर बल दिया जिससे उसकी कहानी के गठन, स्वर और दृष्टि में व्यापक परिवर्तन हो गया।

'नयी कहानी' में प्रयोगशीलता को प्रमुखता प्राप्त हुई। यह प्रयोगशीलता कथ्य एवं शिल्प दोनों स्तरों पर दिखाई पड़ती है। 'नयी कहानी' में कहानी के परम्परागत तत्व - कथानक, चरित्र-चित्रण, चरमबिन्दु, वातावरण आदि - नगण्य हो गये और इनका स्थान ले लिया सूक्ष्म कथात्मकता, जीवन-यथार्थ और उसे प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करने वाली नयी भाषा-शैली ने। प्रत्येक कहानीकार ने वस्तु के अनुरूप नयी भाषा और शैली के प्रयोग और आविष्कार पर बल दिया। यथार्थता के आग्रह ने भाषा को भी यथार्थ रूप प्रदान किया। जैसा और जहाँ का जीवन - वैसी ही उसकी भाषा। आंचलिक कथ्य के लिए आंचलिक भाषा का प्रयोग हुआ। कहानी के शिल्प में संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी आदि अनेक विधाएँ घुल-मिल गईं।

नये जीवन-संदर्भों और स्थितियों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए 'नयी कहानी' के लेखकों ने नवीन कथा-शिल्प का आविष्कार किया। सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता और बिम्बात्मकता को विशेष महत्व दिया गया। प्रो० नामवर सिंह के अनुसार 'नयी कहानी' में सांकेतिकता 'देह में रक्त या प्राण' जैसी है। उनके अनुसार 'नयी कहानी' संकेत ही नहीं करती, वह स्वयं एक संकेत है। इसी तरह प्रतीकात्मकता का भी सहारा कथ्य को स्पष्ट और संप्रेष्य बनाने के लिए लिया गया है। बिम्बात्मकता से नयी कहानी की भाषा में सूक्ष्म ऐन्द्रियता का विस्तार हुआ और साथ ही छिपे हुए आलोक के यथार्थ का उपस्थापन भी।

'अकहानी' आन्दोलन ने 'नयी कहानी' के 'अनुभववाद' का विरोध करके वस्तुनिष्ठता को प्रतिष्ठित किया जिसमें गलदश्रु, भावुकता, संवेदना और विचारोत्तेजना के लिए कोई स्थान नहीं रह गया, उसकी जगह ले ली, तल्खी भरी तटस्थता, निरपेक्षता और सत्वहीनता ने। 'अकहानी' के लेखक ने भावुकता का परित्याग करके 'जिन्दगी जैसी है, उसको वैसी ही चित्रित करने का संकल्प लिया, फलस्वरूप उसे कहानी के परम्परागत शिल्प और भाषा का निषेध करके नये शिल्प को अपनाना पड़ा। शिल्प की दृष्टि से 'अकहानी' मोनोलॉग, फैंटेसी, डायरी, मुक्तासंगपूर्ण निबंध, संस्मरण तथा असंबद्ध प्रलाप के अधिक निकट है या वह इन तत्वों का भरपूर उपयोग करती है।

'सचेतन कहानी' वाले दौर में एक बार फिर कहानी का शिल्प सरल, सीधा और आकार में लघु हुआ, अकहानी के कथा के ह्रास के स्थान पर कथातत्व को महत्व दिया गया और अतिशय शिल्प-सजगता की जगह विचार को प्रधानता मिली। महीप सिंह ने घोषणा की कि सचेतन कहानी विचारप्रधान आन्दोलन है, शिल्प प्रधान नहीं; क्योंकि शिल्प विचार के पीछे चलता है, विचार के आगे नहीं। उनकी दृष्टि में कथ्य और शिल्प की अद्वैत स्थिति ही श्रेयस्कर है। कथा-तत्व और कथ्य के सहज संप्रेषण को महत्व देकर इन कहानीकारों ने कहानी को पुन: जीवन की ओर मोड़ा।

'सचेतन कहानी' में विचार-प्रधानता का जो उद्घोष हुआ, उसने 'समान्तर कहानी' और 'जनवादी कहानी' वाले दौर में इतना जोर पकड़ा कि कहानी विचारधारात्मक लेखन का पर्याय बन गई और 'आम आदमी', 'सामान्य जन', 'सर्वहारा' आदि के जीवन और संघर्ष को चित्रित करने में ही कहानी की सफलता और सार्थकता देखी जाने लगी।

समकालीन हिन्दी कहानी में विचारधारात्मक लेखन का उत्साह थोड़ा ठंडा पड़ा है और कहानीकार जीवन के सच को उसकी विविधता और बहुरूपता में चित्रित करने की दिशा में अग्रसर हुआ है। उदय प्रकाश जैसे कहानीकारों ने कहानी के कथ्य और शिल्प में नवीनता और प्रयोगशीलता को प्रश्रय देकर कहानी को फार्मूलाबद्ध होने से बचाने की सार्थक कोशिश की है। वैसे समकालीन कहानीकारों में आज भी ऐसे कहानीकार हैं जो किसी दल या संगठन के प्रवक्ता अधिक हैं और कहानीकार कम।

कहानी-आन्दोलनों ने हिन्दी कहानी को बराबर एक नयी दिशा दी है, इतना अवश्य है कि इन आन्दोलनों ने यदि कहानी के कथ्य और शिल्प में व्यापक परिवर्तन उपस्थित किया है तो उसकी कुछ सीमाएँ भी निर्धारित की हैं। वस्तुत: जब ये आन्दोलन व्यापक उद्देश्य को लेकर चले, तब तो उन्होंने साहित्य और विधा का हित किया लेकिन जब वे व्यक्तिगत स्वार्थों और हितों के साधन बन गये तो दोनों का अहित भी किया। साहित्य में विचारधारा के महत्व को कम करके नहीं आँका जा सकता है लेकिन विचारधारा की कलात्मक अभिव्यक्ति को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

20.6 हिन्दी उपन्यास

भारतेन्दु युग में ही हिन्दी उपन्यास-लेखन की परम्परा का श्रीगणेश हुआ। तब से बराबर उन्नति करती हुई उपन्यास विधा समकालीन हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण गद्य-विधा के रूप में प्रतिष्ठित है। भारतेन्दु से लेकर आज तक के हिन्दी उपन्यास के समूचे विकास को विवेचन की सुविधा के लिए निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जाता है :

1) आरंभिक हिन्दी उपन्यास या प्रेमचंदपूर्व हिन्दी उपन्यास
2) प्रेमचंदयुगीन हिन्दी उपन्यास,
3) प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास,
4) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास,
5) समकालीन हिन्दी उपन्यास

20.6.1 आरंभिक हिन्दी उपन्यास

आरंभिक हिन्दी उपन्यास या प्रेमचंदपूर्व हिन्दी उपन्यास का समय सन् 1877 से 1918 ई० तक माना जा सकता है। सन् 1877 में श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भाग्यवती' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस उपन्यास की काफी प्रशंसा की है। यह भले ही अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास न हो किन्तु विषयवस्तु की नवीनता के आधार पर इसे हिन्दी का प्रथम आधुनिक उपन्यास कहा जाता है। इसमें तत्कालीन हिन्दू समाज की अनेक कुरीतियों का आलोचनात्मक एवं यथार्थवादी रीति से चित्रण हुआ है और स्त्रियों के लिए अनेक सदुपदेश दिए गए हैं। 1918 ई० में प्रेमचंद का 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ। यहीं से हिन्दी उपन्यास की दिशा और गति में ऐसा परिवर्तन आ जाता है कि प्रेमचंद और उनके समय के उपन्यासों को प्रेमचंद-पूर्व उपन्यासों से अलग करके समझना आवश्यक हो जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में लिखी गई शिक्षाप्रद पुस्तकों को कथात्मकता के बावजूद उपन्यास की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। पं० गौरीदत्त की रचना 'देवरानी-जेठानी' भी एक शिक्षा-प्रधान उपदेशात्मक रचना है। दरअसल लाला श्रीनिवास दास का अंग्रेजी ढंग का नावेल 'परीक्षा गुरु' और श्रद्धाराम फुल्लौरी का 'भाग्यवती' ही हिन्दी के अभिन्न उपन्यासों के रूप में रेखांकित किये जा सकते हैं। 'भाग्यवती' की रचना सन् 1877 में और 'परीक्षा गुरु' का प्रकाशन सन् 1882 में हुआ था। 'भाग्यवती' उपन्यास का प्रकाशन उसके रचना-काल के दस वर्ष बाद सन् 1887 में हुआ।

प्रेमचंद के पूर्व लिखे गये मौलिक उपन्यासों को हम पाँच श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं - 1. सामाजिक उपन्यास, 2. ऐयारी-तिलिस्मी उपन्यास, 3. जासूसी उपन्यास, 4. ऐतिहासिक उपन्यास, 5. भावप्रधान उपन्यास।

सामाजिक उपन्यास

विवेच्य काल राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना की दृष्टि से जागृति एवं सुधार का काल रहा है। सामाजिक समस्याओं और परिस्थितियों को केन्द्र में रखकर साहित्य रचना करने वाले दो प्रकार के साहित्यकार थे - एक वर्ग तो नवीन शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, सुधार-आन्दोलन के प्रकाश में धार्मिक बाह्याडम्बरों एवं सामाजिक विकृतियों को समाप्त करके अपनी प्राचीन संस्कृति की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता था, दूसरे वर्ग का लेखक सनातनी परम्परा से जुड़ा हुआ था। वह आर्य समाज आदि के द्वारा किये जाने वाले सुधारों का विरोधी था। पहले वर्ग के लेखकों में श्रद्धाराम फुल्लौरी, लाला श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट तथा लज्जाराम मेहता और दूसरे वर्ग के लेखकों में गोपालराम गहमरी और किशोरी लाल गोस्वामी के नाम उल्लेखनीय हैं। इन दोनों वर्गों के लेखकों ने अधिकतर नीति-उपदेश-प्रधान उपन्यासों की ही रचना की। इनके उपन्यासों के विषय हैं - आदर्श विद्यार्थी, आदर्श हिन्दू, आदर्श गृहिणी, चरित्र-बल, सत्य-निष्ठा आदि का महत्व तथा जुआ, मद्यपान, कुसंगति आदि से होने वाली हानियाँ और उनका निवारण। लाला श्रीनिवास दास (परीक्षा गुरु), बालकृष्ण भट्ट (नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान), लोचनप्रसाद पाण्डेय (दो मित्र), लज्जाराम शर्मा (आदर्श दम्पत्ति, बिगड़े का सुधार), गोपालराम गहमरी (नये बाबू, डबल बीबी, सास-पतोहू) आदि के उपन्यास उपर्युक्त प्रवृत्तियों की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं।

इन सामाजिक उपन्यासों के बीच प्रेम-रोमांस वाले ऐसे उपन्यासों की भी रचना हुई है जिनमें रीतिकालीन नायिका-भेद वाले विलासात्मक प्रेम को प्रधानता दी गई है, कुछ उपन्यासों में उर्दू-उपन्यासों की शोखी, शरारत और चुहल भी दिखाई पड़ती है। 'अँगूठी का नगीना' (किशोरी लाल गोस्वामी), 'प्रणयी माधव'

(मोटेश्वर पोतदार), 'शीला' (हरिप्रसाद जिंजल), 'श्यामा स्वप्न' (ठाकुर जगमोहन सिंह) आदि प्रेम-प्रधान उपन्यास हैं।

इस युग के सबसे महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं किशोरीलाल गोस्वामी, जिन्होंने लगभग 65 उपन्यासों की रचना की है। इनके विचार सनातन हिन्दू धर्म के अनुकूल हैं। इनके सामाजिक उपन्यासों में 'त्रिवेणी व सौभाग्य श्रेणी', 'लीलावती व आदर्श सती', 'राजकुमारी', 'चपला व नव्य समाज' आदि उल्लेखनीय हैं। गोस्वामी जी के प्राय: सभी उपन्यास स्त्रीपात्र-प्रधान हैं और उनमें प्रेम के विविध रूपों का चित्रण हुआ है। उन्होंने यदि एक ओर सती-साध्वी देवियों के आदर्श प्रेम का चित्रण किया है तो दूसरी ओर साली-बहनोई के अवैध-प्रेम, विधवाओं के व्यभिचार, वेश्यायों के कुत्सित जीवन आदि का भी सजीव वर्णन किया है। बनते हुए नये समाज को इन्होंने संदेह की नजर से देखा है।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास

हिन्दी उपन्यास युग-जीवन के चित्रण की जिस प्रवृत्ति को लेकर आरम्भ हुआ था यदि परवर्ती लेखकों ने उस परम्परा का अनुगमन किया होता तो यथार्थपरक समाज-चित्रण की कला प्रेमचंद के पहले ही प्रौढ़ता प्राप्त कर लेती, किन्तु देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास के प्रकाश में आते ही चमत्कारपूर्ण घटना-प्रधान उपन्यासों की ऐसी धूम मची कि कुछ काल के लिए सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने वाली प्रवृत्ति की गति मन्द पड़ गयी।

देवकीनन्दन खत्री पर उर्दू की दास्तान-परम्परा का प्रभाव है। उन्होंने 'तिलस्में होशरूबा' से लेकर 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता संतति', 'भूतनाथ', 'नरेन्द्र मोहिनी', 'वीरेन्द्र वीर', 'कुसुम कुमारी' जैसे रहस्य-रोमांच से परिपूर्ण उपन्यासों की रचना की और हिन्दी में एक नया पाठक-समाज तैयार किया - ऐसा पाठक-समाज भी बनाया जो हिन्दी नहीं जानता था। उनके उपन्यासों को पढ़ने के लिए असंख्य लोगों ने हिन्दी सीखी और देवनागरी लिपि का ज्ञान प्राप्त किया। खत्री जी के उपन्यासों का संसार तिलस्मी एवं ऐयारी से भरपूर उर्दू दास्तानों और प्राचीन भारतीय कथाओं के राजकुमार-राजकुमारियों की प्रेम-कथाओं से निर्मित ऐसा संसार है जिसमें सब कुछ अतार्किक, जादुई और चमत्कारपूर्ण है।

ऐयार अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है तीव्रगामी या चपल व्यक्ति। देवकीनन्दन खत्री के अनुसार 'ऐयार उसको कहते हैं जो हर एक फन जानता हो। शक्ल बदलना और दौड़ना उसका मुख्य कार्य है।' खत्री जी के उपन्यासों में इन्हीं ऐयारों की करामात का रहस्य-रोमांच भरा ऐसा आख्यान है जिसको पढ़ने वाला व्यक्ति आत्म-विस्मृति की हद पर पहुँचकर इतने मनोरंजनपूर्ण संसार में लीन हो जाता है कि वहाँ से निकलना उसे प्रीतिकर नहीं लगता। माताप्रसाद गुप्त के अनुसार अतिप्राकृत भावना के आधार पर लिखे गये इन उपन्यासों की लोकप्रियता के लिए मध्ययुगीन विकृत रुचि ही उत्तरदायी है। जो भी हो, इतना अवश्य है कि हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में इन रचनाओं का बहुत बड़ा योगदान है।

खत्री के अतिरिक्त हरेकृष्ण जौहर ने 'कुसुमलता', 'भयानक भ्रम', 'नारी पिशाच', 'मयंक मोहिनी या माया महल', 'भयानक खून' आदि ऐयारी उपन्यासों की रचना की। किशोरी लाल गोस्वामी ने भी 'शीशमहल' नामक उपन्यास लिखा। इन लेखकों को खत्री जैसी लोकप्रियता नहीं मिली।

जासूसी उपन्यास

तिलस्मी ऐयारी उपन्यासों की लोकप्रियता ने गोपाल राम गहमरी को भिन्न ढंग से प्रसिद्ध होने के लिए जासूसी उपन्यासों की रचना में प्रवृत्त होने का अवसर प्रदान किया। जासूसी उपन्यास पूर्णत: योरोप-विशेषत: इंगलैंड की देन है। उन्नीसवीं शती में सर आर्थर कानन डायल के जासूसी उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए थे। उनके प्रभावस्वरूप बंगला में और बाद में हिन्दी में जासूसी उपन्यास लिखे गये। गोपाल राम गहमरी ने सन् 1900 ई० में 'जासूस' नामक मासिक पत्र निकाला। इसी में इनके जासूसी उपन्यास प्रकाशित हुए जिनकी संख्या लगभग 200 है। 'अद्भुत लाश', 'गुप्तचर', बेकसूर को फाँसी', 'खूनी कौन', 'बेगुनाह का खून', 'जासूस की चोरी', 'अद्भुत खून', 'डाके पर डाका', 'जादूगरनी मनोला', 'खूनी का भेद', 'खूनी की खोज', 'किले में खून' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं जिनमें चोरी, डकैती, हत्या, ठगी

आदि से संबंधित कोई भयंकर काण्ड हो जाता है और जासूस उसके सुराग में लग जाता है। फिर क्रमश: कथानक एक रहस्य से दूसरे रहस्य में उलझता हुआ घटनाओं के वातचक्र में तब तक फँसा रहता है जब तक जासूस अपने धैर्य, साहस, बल, बुद्धि और कौशल से उसका रहस्य-भेदन नहीं कर लेता। जासूसी उपन्यास की घटनाएँ जीवन की यथार्थ स्थिति के निकट होती हैं। कल्पना से उनमें रहस्य की सृष्टि होती है और इस तरह कथानक जटिल और पेचीदा हो जाता है। इस तरह के उपन्यासों में भी मनोरंजन, कुतूहल, कौतुक का समावेश रहता है किन्तु सत्य का उद्घाटन नैतिकता का स्थापन और आदर्शवादी दृष्टि का पोषण भी इनका उद्देश्य रहा है।

गोपालराम गहमरी के अतिरिक्त रामलाल वर्मा (चालाक चोर), किशोरीलाल गोस्वामी (जिन्दे की लाश), जयराम दास गुप्त (लंगड़ा खूनी) ने भी जासूसी उपन्यासों की रचना की किन्तु गहमरी के अतिरिक्त किसी को विशेष ख्याति नहीं मिली।

ऐतिहासिक उपन्यास

इस युग में मध्यकालीन भारत के मुगल शासन से संबंधित ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर अनेक उपन्यास लिखे गये। किशोरीलाल गोस्वामी ने ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना में विशेष रुचि दिखाई है। 'तारा वा क्षात्रकुल कमलिनी', 'कनक कुसुम वा मस्तानी', 'सुल्ताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल', 'लखनऊ की कब्र या शाही महलसरा', 'सोना, सुगन्ध वा पन्नाबाई', आदि उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं। इनके अतिरिक्त गंगा प्रसाद (नूरजहाँ, वीर पत्नी, कुमार सिंह सेनापति, हम्मीर) जयरामदास गुप्त (काश्मीर पतन, रंग में भंग, मायारानी, नवाबी परिस्तान व वाजिद अली शाह, मल्का चाँद बीबी), मथुरा प्रसाद शर्मा (नूरजहाँ बेगम), ब्रजनन्दन सहाय (लाल चीन) आदि ने भी ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की। इन उपन्यासों में यद्यपि ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं का चित्रण हुआ है, किन्तु इन्हें सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता हैं क्योंकि एक तो इनमें ऐतिहासिक वातावरण का अभाव है, दूसरे ऐतिहासिक घटनाओं और तत्कालीन रीति-नीति, आचार-विचार वेश-भूषा आदि के वर्णन में कालदोष विद्यमान है। दरअसल लेखकों की प्रवृत्ति इतिहास की ओर से हटकर प्रणय-कथाओं, विलास-लीलाओं, रहस्यमय प्रसंगों और कुतूहलपूर्ण घटनाओं की कल्पना में अधिक लीन रही है। उन्होंने ऐतिहासिक छानबीन कम की, कल्पना से अधिक काम लिया है ऐसा प्रतीत होता है कि तिलिस्मी-ऐयारी और जासूसी उपन्यासों के अतिशय रहस्य-रोमांच के समानान्तर अपनी प्रेमकथाओं को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करने के लिए इन रचनाकारों ने इतिहास का सहारा ले लिया। इन्हें ऐतिहासिक रोमांस की कथाएँ कहना अधिक समीचीन है।

भावप्रधान उपन्सास

इस युग में कुछ ऐसे भी उपन्यास लिखे गए जिनमें न घटना की प्रधानता है, न चरित्र की। इनमें भावतत्व की प्रधानता है जैसे ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामा-स्वप्न', ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकांत', 'राजेन्द्र मालती', आदि उपन्यास। इन उपन्यासों में कथा-तत्व सर्वथा क्षीण है। आचार्य शुक्ल ने इन्हें 'काव्यकोटि में आने वाले भावप्रधान उपन्यास' कहा है। घटना-परिस्थिति की क्षीणता के कारण इन उपन्यासों में कोई गति भी प्राय: नहीं है।

20.6.2 प्रेमचंदयुगीन हिन्दी उपन्यास

प्रेमचंद का 'सेवासदन' उपन्यास सन् 1918 में प्रकाशित हुआ। इसी उपन्यास के प्रकाशन के साथ हिन्दी उपन्यास के नये युग का आरंभ होता है जिसे 'प्रेमचंद युग' और हिन्दी उपन्यास के 'विकास युग' के नाम से जाना जाता है। इस युग की समय-सीमा सन् 1918 से 1936 ई० तक मानी जा सकती है क्योंकि इसी अवधि में प्रेमचंद का उपन्यास-लेखन सम्पन्न हुआ है। और इसी समय सीमा में प्रेमचंद से प्रेरित-प्रभावित अनेक उपन्यासकारों ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा प्रदर्शित की है।

सन् 1918 से 1936 ई० तक का समय भारतीय स्वाधीनता संघर्ष और समाज सुधार संबंधी आन्दोलनों की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। अंग्रेजी शासन, शिक्षा एवं सभ्यता के प्रभाव से तथा हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वासों, मत-मतान्तरों एवं धार्मिक आडम्बरों के प्रति बौद्धिक विद्रोह से, हमारे भीतर

अपने धर्म, शिक्षा, संस्कृति एवं आचार-विचार विषयक जो हीनता आ गई थी उसके उन्मूलन के लिए चले आ रहे प्रयासों के फलस्वरूप हिन्दू समाज में एक नवीन चेतना और गौरव की भावना का उदय हो रहा था। महात्मा गांधी भारतीय राजनीतिक मंच पर सूर्य की तरह उदित हो गए थे। उनके सत्य, आहिंसा, सदाचार, सत्याग्रह, अस्पृश्यता विरोध, स्त्रियों की उन्नति ग्राम सुधार, अछूतोद्धार, स्वदेशी आदि से संबंधित विचारधारा का जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ने लगा था। अन्याय-उत्पीड़न के खिलाफ विरोध की नई शक्ति का उदय, उत्पीड़क समाज, सामन्त वर्ग, सरकारी अधिकारी, पूँजीपति आदि से टक्कर लेने का साहस, रूस की नवजागृति, विज्ञान के अभूतपूर्व आविष्कार आदि का हमारे जन-जागरण पर जो प्रभाव पड़ा उससे समाज यथार्थोन्मुख और वर्गीय समझ से भी सम्पन्न हुआ। अत: कल्पना, रोमांस एवं चमत्कार-प्रदर्शन के इन्द्रजाल से मुक्ति लेकर हिन्दी उपन्यासकार यथार्थ की कठोरभूमि पर खड़े होकर समाजोपयोगी साहित्य की रचना में प्रवृत्त हुआ। इस नयी रचना-दृष्टि के संवाहक थे मुंशी प्रेमचन्द, जिन्होंने पहले के उपन्यासकारों पर यह मार्मिक टिप्पणी की थी - 'जिन्हें जगत् गति नहीं व्यापती, वे जासूसी, तिलस्मी चीजें, लिखा करते हैं'। यह कहकर प्रेमचंद ने अपना प्रस्थान-भेद और रचना संबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया था। प्रेमचंद ने अपने समय के सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ को अपने अनेक उपन्यासों में बड़ी गम्भीरता एवं मार्मिकता के साथ चित्रित किया है।'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम','निर्मला', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान', और 'मंगलसूत्र' जैसे उपन्यासों से प्रेमचंद ने हिंदी भाषी जनता का मानसिक संस्कार किया है और युगीन सामाजिक-राजनीतिक गतिविधि का पूर्ण चित्र भी अंकित किया है। उनके उपन्यासों में मानवीय आदर्श, कर्तव्य, प्रेम, करुणा, समाज-सुधार, देश-भक्ति, सत्याग्रह, अहिंसा, स्त्री-व्यथा, मध्यवर्गीय मनुष्य की त्रासदी, कृषक जीवन की समस्याएँ मेहनतकश जनता का संघर्ष आदि अनेक जीवन-संदर्भों का व्यापक एवं प्रभावोत्पादक चित्रण हुआ है। प्रेमचंद के उपन्यासों में आदर्शवाद और यथार्थवाद का अद्भुत मेल है। उनके आरंभिक उपन्यासों में जहाँ आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की अभिव्यक्ति हुई है, वहीं 'गोदान' में उनका आदर्शवाद पूरी तरह बिखर गया है और उसका स्थान ले लिया है क्रूर यथार्थ ने। यहाँ तक आते-आते गांधी के प्रभाव से हृदय परिवर्तन का भी सिद्धान्त पूरी तरह निष्फल हो गया है।

प्रेमचंद ने जहाँ गांधीवादी विचारों और आदर्शों से प्रभावित होकर उपन्यास-रचना की, वहीं अपने चिन्तन, जीवनानुभव और ज्ञानार्जन से यथार्थवादी चेतना का भी विकास किया। प्रेमचंद के उपन्यास साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है, दलितों के प्रति सहानुभूति और करुणा तथा उनके जीवन संघर्ष की प्रामाणिक एवं मार्मिक अभिव्यक्ति। हिन्दी साहित्य में जनचेतना और जनपक्षधरता का इतना बड़ा कोई दूसरा उपन्यासकार नहीं दिखाई पड़ता ।

प्रेमचंद से प्रभावित होकर **विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', शिवपूजन सहाय, भगवती प्रसाद वाजपेयी, चण्डी प्रसाद हृदयेश, राजा राधिका रमण सिंह, सियाराम शरण गुप्त** आदि ने सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ वाले उपन्यासों की रचना की। इन लेखकों के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन, गांधीवादी जीवन-दर्शन, सुधारवादी प्रवृत्ति, सद्वृत्तियों की संपुष्टि, सच्चरित्रता, शोषण-अन्याय के खिलाफ संघर्ष आदि की प्रधानता है।

प्रेमचंद युग में ही **जयशंकर प्रसाद** ने 'कंकाल', 'तितली', 'इरावती', जैसे उपन्यासों से अपनी उपन्यास-कला का भी परिचय दिया। उन्होंने 'कंकाल', में सामाजिक यथार्थ का चित्रण करके यह प्रमाणित कर दिया कि वे अतीत में ही रमे रहने वाले रचनाकार नहीं थे, वरन् उन्हें अपने समय के सामाजिक यथार्थ की भी गहरी जानकारी थी। इसी समय **निराला** ने 'अप्सरा', 'प्रभावती', 'निरुपमा', 'चोटी की पकड़', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'कुल्लीभाट' जैसे उपन्यासों से प्रेमचंदयुगीन सामाजिक चेतना को एक नया आयाम दिया। कुल्लीभाट' और बिल्लेसुर बकरिहा' में निराला ने अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ ही **संस्मरणात्मक उपन्यास** की एक नई शैली का विकास किया किन्तु यह शैली उन्हीं के उपन्यासों तक ही सीमित होकर रह गई। 'कुल्लीभाट' और बिल्लेसुर बकरिहा' हास्य-व्यंग्य की सरसता और तीक्ष्णता से युक्त ऐसे उपन्यास हैं जिनसे निराला की प्रगतिशील चेतना अधिक सघनता एवं प्रामाणिकता के साथ परिपुष्ट होती है। भगवती चरण वर्मा, जैनेन्द्र, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि ने भी प्रेमचंदयुग में ही लिखना आरंभ किया। इनकी प्रवृत्ति, दृष्टि और शैली उस युग से भिन्नता लिए हुए है, और इनकी कला का निखार भी प्रेमचंदोत्तर काल में ही दिखाई पड़ा अत: इनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन प्रेमचंदोत्तर काल में ही करना अधिक समीचीन है।

20.6.3 प्रेमचंदोत्तर उपन्यास

प्रेमचंदोत्तर उपन्यास को ऐतिहासिक दृष्टि से दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग में प्रेमचंद के निधन (सन् 1936 ई०) के बाद से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति (सन् 1947) तक के उपन्यासों और दूसरे वर्ग में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आज तक के उपन्यासों का अध्ययन-मूल्यांकन किया जा सकता है। यहाँ आप पहले स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व के उपन्यासों का अध्ययन करेंगे।

प्रेमचंद के निधन के बाद हिन्दी उपन्यास में अनेक प्रवृत्तियों का विकास हुआ जैसे सामाजिक एवं मानवतावादी, स्वच्छंदतावादी, प्रकृतवादी, मनोविश्लेषणवादी, सामाजिक यथार्थवादी और ऐतिहासिक-पौराणिक। सामाजिक एवं मानवतावादी उपन्यास परम्परा मूलतः प्रेमचंद की ही परम्परा है। जिसमें सामाजिक यथार्थ के चित्रण और मनुष्य के चतुर्दिक विकास और हित पर विशेष बल दिया गया है। इस परम्परा को समृद्ध करने वाले उपन्यासकार हैं- ' विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सियाराम शरण गुप्त, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर, उदयशंकर भट्ट। प्रेमचंद-युग में गांधीवादी विचारधारा की प्रमुखता रही है। जिसमें मानवतावाद की व्यापक प्रतिष्ठा भी हुई है। सियाराम शरण गुप्त, प्रतापनारायण श्रीवास्तव जैसे लेखकों पर गांधीवाद का गहरा प्रभाव रहा है। सियाराम शरण गुप्त के 'गोद', 'अंतिम इच्छा' और 'नारी' में, प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विजय', 'विकास', 'बयालीस', और ' विसर्जन' जैसे उपन्यासों में गांधीवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। वे आध्यात्मिक स्तर पर गांधीवाद, हृदय-परिवर्तन और आत्मपीड़न के सिद्धान्त को मान्यता देते हैं। स्वच्छंदतावादी उपन्यासों की रचना में वृन्दावन लाल वर्मा (गढ़ कुण्डार, विराटा की पद्मिनी), जयशंकर प्रसाद (तितली), निराला (अप्सरा, अलका, प्रभावती), भगवती चरण वर्मा (तीन वर्ष, चित्रलेखा) और उषादेवी मित्रा (प्रिया) का योगदान उल्लेखनीय है। हालाँकि प्रेमचंदोत्तर काल में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का ह्रास हो गया था लेकिन यह ऐसी प्रवृत्ति है जो कभी मर नहीं सकती। विद्वानों का तो यह भी मानना है कि यह प्रवृत्ति मन्मथनाथ गुप्त, यशपाल और राहुल सांकृत्यायन जैसे लेखकों में भी मौजूद है। वैसे किसी रचना में किसी प्रवृत्ति का होना एक बात है और उसका प्रधान होना दूसरी बात।

प्रेमचंद-युग में ही प्रकृतवादी उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात हो गया था। प्रकृतवाद अपने में एक विशिष्ट जीवन-दर्शन है जो मानव-जीवन को वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकृत रूप में (नेचुरल) देखने और चित्रित करने में विश्वास रखता है। इस दृष्टि के अनुसार जीवन में जिसे विद्रूप और कुत्सित कहा जाता है, वह सहज और वैज्ञानिक भी है। चतुरसेन शास्त्री (हृदय की परख, व्यभिचार, हृदय की प्यास, अमर अभिलाषा, आत्मदाह), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (दिल्ली का दलाल, चाकलेट, चन्द हसीनों के खतूत, बुधुआ की बेटी, शराबी, सरकार तुम्हारी आँखों में, जीजा जी), और ऋषभचरण जैन (वैश्यापुत्र, मास्टर साहब, सत्याग्रह, बुर्केवाली, चाँदनी रात, दिल्ली का व्यभिचार, हर हाईनेस, दुराचार के अड्डे, मयखाना) ने हिन्दी में प्रकृतवादी उपन्यासों की रचना की और यथार्थ के नाम पर मानव-जीवन की विकृतियों का खुलकर वर्णन-चित्रण किया। प्रकृतवादी उपन्यासों के जनक जोला (ZOLA) की मान्यता है कि लेखकों का धर्म है कि वे जीवन के गंदे और कुरूप से कुरूप चित्र खींचे। मनुष्य की दुर्बलताओं, रोगों और विकृतियों का वर्णन करते समय उन्हें कोई अंश छोड़ना नहीं चाहिए। हिन्दी के प्रकृतवादी उपन्यासकारों ने इस धारणा के तहत जीवन का ऐसा चित्र प्रस्तुत किया जिसे पढ़कर वितृष्णा पैदा होती है और यह महसूस होता है कि जीवन में सब कुछ विद्रूप, कुत्सित और वीभत्स है। इस प्रवृत्ति को अधिक प्रश्रय नहीं मिला।

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों में व्यक्तिवादी चेतना का भी प्राधान्य रहा। व्यक्तिवादी, व्यक्ति की सत्ता और अस्तित्व को समाज से पहले स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में समाज-व्यवस्था महज एक माध्यम होती है, लक्ष्य व्यक्ति होता है। अपने योग-क्षेम का निर्णायक व्यक्ति होता है। वह अपने प्रति स्वयं उत्तरदायी होता है। इसमें व्यक्ति का अहं प्रबल होता है। भगवती चरण वर्मा (चित्रलेखा, तीन वर्ष, टेढ़े-मेढ़े रास्ते), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (एक रात का नरक, सितारों के खेल, गिरती दीवारें), भगवती प्रसाद वाजपेयी (पतिता की साधना, चलते-चलते, टूटते बंधन) और उषा देवी मित्रा (वचन का मोल, जीवन का मुस्कान, पथचारी) ने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से उपन्यासों की रचना की है। इन उपन्यासकारों ने सामाजिक शक्तियों के स्थान पर व्यक्ति की चेतना और उसके व्यक्तित्व को अधिक महत्वपूर्ण माना है। यहाँ व्यक्ति का विद्रोह भी सामाजिक संदर्भ से रहित व्यक्तिगत ही है।

प्रेमचंद के बाद हिन्दी उपन्यास में मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों की एक ऐसी पंक्ति तैयार हुई जिसने हिन्दी को अनेक श्रेष्ठ उपन्यासों से समृद्ध किया है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय इस परम्परा के अग्रणी रचनाकार हैं। फ्रायड, एडलर और युंग की मनोविश्लेषण-संबंधी मान्यताओं का इन लेखकों पर गहरा प्रभाव है। मनुष्य के अन्तर्जगत की सूक्ष्म एवं गहन पड़ताल करके उसके अन्त:सत्य को उद्घाटित करना इन लेखकों का उद्देश्य है। इन उपन्यासकारों पर फ्रायड के सिद्धान्तों का अधिक प्रभाव है। उसके कुंठावाद के आधार पर लेखकों ने मनुष्य की दमित वासनाओं, कुंठाओं, काम-प्रवृत्तियों, अहं, दंभ और हीनभावना आदि ग्रंथियों का चित्रण करके हिन्दी उपन्यास में व्यक्ति का ऐसा रूप प्रस्तुत किया जिसमें वह अपनी आन्तरिक छवि देख सकता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने यह माना कि बाह्य सत्य की अपेक्षा अन्त:सत्य ही प्रामाणिक एवं विश्वसनीय है। अत: उसे ही मानना महत्वपूर्ण है।

जैनेन्द्र के 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', और अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' 'नदी के द्वीप',जैसे उपन्यासों से यह कथा-परम्परा समृद्ध हुई है। जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में सामाजिक मर्यादाओं के बीच अपनी पहचान बनाने वाले पात्रों की सृष्टि की है जो सामाजिक दबावों और व्यक्तिगत आग्रहों के चलते द्वन्द्वग्रस्त होकर आत्मयातना के शिकार हो गए हैं। वे समाज को न तोड़कर, स्वयं टूटते हैं। जैनेन्द्र के दृष्टिकोण पर गांधीवाद का भी प्रभाव है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि पीड़ा और व्यथा ही अहं को विगलित करने में समर्थ है। व्यथा का तीव्रतम रूप कामगत यातना में प्राप्त होता है। इसीलिए जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में कामपीड़ा और समर्पण का चित्रण करके अहं का विसर्जन किया है। इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों में मनोविश्लेषणवाद का इतना प्रभाव है कि उनके उपन्यास फ्रायड की मान्यताओं के साहित्यिक संस्करण प्रतीत होते हैं। उनके उपन्यासों के पात्र अनेक मनोग्रंथियों से पीड़ित रुग्ण और दुर्बल हैं।

अज्ञेय मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों में अपनी विद्रोह-भावना, वरण की स्वतंत्रता और व्यक्तित्व की अद्वितीयता की विशिष्ट धारणा और उपन्यासों में उनके कलात्मक रचाव के कारण विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके तीनों उपन्यास - 'शेखर : एक जीवनी' 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' हिन्दी उपन्यास-साहित्य की विशिष्ट कृतियाँ हैं। 'शेखर : एक जीवनी' में मूलत: व्यक्ति-स्वातंत्र्य की समस्या उठाई गई है। इसका प्रधान पात्र शेखर जीवन की जटिल गहराइयों में डूबता-उतराता, अनेक प्रकार के प्रयोग करता, पारंपरिक मूल्यों को ढहाता एक ऐसे विद्रोही का रूप धारण कर लेता है जो बाद में अपने भी खिलाफ हो जाता है। 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय का व्यक्तिवादी जीवनदर्शन व्यक्त हुआ है। उन्होंने मध्यवर्गीय कुंठित जीवन के प्रतीक के रूप में नदी के द्वीप की कल्पना की है। नदी का द्वीप धारा से कटा हुआ है। मध्यवर्गीय जीवन भी शेष जन-प्रवाह से विछिन्न है। इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र भुवन एक आत्मकेन्द्रित व्यक्ति है।

इन मनोविश्लेणवादी उपन्यासकारों के साथ स्वातंत्र्योतर काल के लेखक डॉ० देवराज का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होंने -पथ की खोज', 'रोड़े-पत्थर', 'अजय की डायरी' और 'मैं, वे और आप' उपन्यासों की रचना की है मनोविलेषणवादी उपन्यासकारों को प्रयोगवादी उपन्यासकार कहा गया है क्योंकि इन्होंने उपन्यास के कथ्य और शिल्प में प्रयोगशीलता को प्रश्रय दिया है।

सन् 1941 में हिन्दी के दो बड़े उपन्यास - अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' और यशपाल का 'दादा कामरेड' एक साथ प्रकाशित हुए। इनमें प्रयोग और प्रगति की दो भिन्न जीवन-दृष्टियाँ स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आईं। अज्ञेय के उपन्यास में मनोविश्लेषण, विद्रोहमूलक वैयक्तिक आग्रह, व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अभिनव रूप-विन्यास की प्रधानता थी तो यशपाल के उपन्यास पर मार्क्सवादी विचारधारा और यथार्थवादी शिल्प का गहरा प्रभाव था। वैसे तो प्रेमचंद के परवर्ती लेखन पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव दिखाई पड़ने लगा था किन्तु उसको व्यापक प्रतिष्ठा मिली यशपाल आदि समाजवादी-प्रगतिवादी लेखकों के साहित्य में। 'प्रगतिशील लेखक मंच' के प्रथम अधिवेशन के अपने भाषण में प्रेमचंद ने अपने वस्तुवादी दृष्टिकोण और प्रगतिशील सौन्दर्य-दृष्टि को भलीभाँति स्पष्ट कर दिया था। आगे चलकर प्रेमचंद की यथार्थवादी परम्परा का ही अनेकायामी विकास हुआ। प्रेमचंद के बाद यशपाल, नागार्जुन, मन्मथनाथ गुप्त, रांगेय राघव आदि उपन्यासकारों ने उस यथार्थवादी परम्परा का समुचित विकास किया।

'दादा कामरेड' के बाद यशपाल के तीन उपन्यास - 'देशद्रोही', 'दिव्या', और 'पार्टी कामरेड' - स्वतंत्रता के पहले प्रकाशित हुए और स्वतंत्रता के बाद 'मनुष्य के रूप' और 'झूठा सच' जैसे वृहदकाय उपन्यास का प्रकाशन हुआ। यशपाल के उपन्यासों में साम्यवादी विचार-दर्शन की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने लेखक और लेखन को सामाजिक उपयोगिता के दर्शन से जोड़ा है। उनका कहना है कि लेखक यदि कलाकार है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे श्रमियों की भाँति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करने में है। यशपाल के उपन्यासों में प्रमुख रूप से भारतीय स्वाधीनता संघर्ष, समाज-संबद्धता, क्रांति और विद्रोह, प्रगतिशील जीवनमूल्य और चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। रांगेय राघव के 'घरौंदे', 'विषाद मठ' और मन्मथनाथ गुप्त के 'शोले', 'मशाल' में भी प्रगतिशील जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है। स्वतंत्रता के बाद इस प्रगतिवादी धारा या समाजवादी धारा का ही विकास हुआ। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों का विवेचन करते समय इस विषय पर चर्चा करेंगे।

ऐतिहासिक-पौराणिक उपन्यास लेखकों में वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में भारतीय इतिहास के उन अध्यायों और घटनाओं को चित्रित किया गया है, जिनसे वर्तमान को नयी दिशा और प्रेरणा मिलती है। ऐसे उपन्यासों का उद्देश्य केवल इतिहास के आलोक में सुधारने और सँवारने की चेतना प्रदान करना है, साथ ही वर्तमान को इतिहास में संगुम्फित करने और नये जीवन-मूल्यों को विश्वसनीय और प्रेरणास्पद बनाकर प्रस्तुत करने की दृष्टि भी क्रियाशील है। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृन्दावन लाल वर्मा को विशेष ख्याति मिली है। उनके 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झांसी की रानी' जैसे उपन्यास स्वतंत्रता से पहले और 'कचनार', 'मृगनयनी', 'अहिल्याबाई', 'भुवन विक्रम', 'माधव जी सिंधिया', 'रामगढ़ की रानी', 'महारानी दुर्गावती' आदि उपन्यास स्वतंत्रता के बाद लिखे गए हैं। वर्मा जी को अपनी धरती से विशेष स्नेह है। उन्होंने अपने इतिहासप्रधान उपन्यासों में मध्यकालीन भारत के दबे-बिखरे शौर्य और साहस को बड़ी ममता से संजोया है। उनका मानना है कि इतिहास मनुष्य के विकास में सहायक होता है। इस धारणा के तहत उन्होंने अपने उपन्यासों में इतिहास के तथ्यों की रक्षा की है और ऐतिहासिक घटनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का प्रसार किया है।

भारतीय संस्कृति के संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत वाले चतुरसेन शास्त्री ने 'वैशाली की नगरवधू' को स्वतंत्रता से पहले और 'सोमनाथ' तथा 'वयं रक्षाम:' को स्वतंत्रता के बाद लिखा। इन उपन्यासों को लिखते समय उनकी यह धारणा क्रियाशील रही है कि इतिहास के काले पर्दे के पीछे आर्यों के धर्म, साहित्य, राज्यसत्ता और संस्कृति की पराजय और मिश्रित जातियों की प्रगतिशील संस्कृति की विजय सहस्त्राब्दियों से छिपी हुई है जिसे संभवत: किसी इतिहासकार ने आँख उघाड़कर नहीं देखा है। वर्माजी ने अपने उपन्यासों से यह कार्य किया। उनके उपन्यासों में इतिहास-रस भी है और वर्तमान जीवन का स्पन्दन भी।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखकर एक अभिनव प्रयोग किया। बाणभट्ट के ऐतिहासिक जीवनवृत से जुड़ी कुछ घटनाओं के उपयोग के बावजूद यह न तो आत्मकथा है, न जीवनी। इसमें हर्षवर्धन कालीन इतिहास, समाज और संस्कृति के साथ-साथ युगबोध को भी अभिव्यक्ति मिली है। यह कथ्य, शिल्प, भाषा, शैली, संचेतना आदि सभी दृष्टियों से एक अनूठा उपन्यास है। प्रयोगशीलता इसकी प्रमुख विशेषता है। भारत के सांस्कृतिक यथार्थ को चित्रित करने वाला यह अनूठा ऐतिहासिक उपन्यास है।

20.6.4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास-परम्परा में तीन पीढ़यों की सर्जनात्मकता का योगदान है। एक पीढ़ी प्रेमचंदोत्तर रचनाकारों की है जिनमें जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, यशपाल, मन्मथनाथ गुप्त, भगवती चरण वर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा, अमृतलाल नागर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, दूसरी पीढ़ी उन रचनाकारों की है जिनका कृतित्व स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद वाले दशक से प्रकाश में आया। उदयशंकर भट्ट, प्रभाकर माचवे, भैरवप्रसाद गुप्त, भीष्म साहनी, नरेश मेहता, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, निर्मल वर्मा, दुष्यंत कुमार, ठाकुर प्रसाद सिंह आदि इसी पीढ़ी के रचनाकार हैं। लेखकों की यह पीढ़ी आजादी के समय युवा थी। तीसरी पीढ़ी उन रचनाकारों की है जो आजादी के बाद या उसके आस-पास पैदा हुई और जिसकी रचनात्मकता पिछले पच्चीस-तीस वर्षों के दौरान प्रत्यक्ष हुई। यही

समकालीन पीढ़ी है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास के इस शीर्षक के अंतर्गत हम पहली दोनों पीढ़ियों के उपन्यास-साहित्य पर प्रकाश डाल रहे हैं। ये दोनों पीढ़ियाँ समानान्तर रूप से सृजन-रत रही हैं। तीसरी पीढ़ी के उपन्यासों की चर्चा 'समकालीन हिन्दी उपन्यास' के अंतर्गत की जाएगी।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश के राजनीतिक-सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में व्यापक परिर्वन उपस्थित हुआ। स्वाधीनता-संघर्ष के दौरान जिस व्यापक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का अभ्युदय हुआ था, वह धीरे-धीरे हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की गिरफ्त में आती गई और अंग्रेजों की 'फूट डालो, राज करो' की नीति सफल होती गई। इसी के परिणामस्वरूप सन् 1947 ई० में अखण्ड भारत के दो खण्ड हो गये - हिन्दुस्तान और पाकिस्तान । भारत-विभाजन के बाद देश में साम्प्रदायिक दंगे हुए। आजाद भारत के निर्माण और विकास के लिए प्रयत्न हुए। तरह-तरह की योजनाएँ बनीं। उद्योग-धंधों, कार्यालयों और अन्य कर्म-क्षेत्रों का विस्तार हुआ। इस परिदृश्य से सामाजिक-राजनीतिक जीवन में उथल-पुथल हुई, परिवर्तन, विघटन और निर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई। इसके अलावा आजादी के भी जो मीठे-कडुवे अनुभव हासिल हुए, उन सबको केन्द्र में रखकर स्वातंत्र्योत्तर काल के उपन्यासकारों ने महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना की। यशपाल का 'झूठा-सच' स्वतंत्रता-पूर्व और स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के यथार्थ को चित्रित करने वाला महाकाव्यात्मक उपन्यास है। यह उपन्यास दो खण्डों में लिखा गया है। पहला खण्ड है - 'वतन और देश' और दूसरा है 'देश का भविष्य'। ये दोनों शीर्षक काफी व्यंजनापूर्ण हैं और आजादी के पूर्व और आजादी के बाद के भारत की संघर्ष-कथा को बड़ी सजीवता के साथ रूपायित करते हैं। इसमें 1942 से 1952 ई० तक के भारत के राजनीतिक-सामाजिक जीवन का यथार्थवादी चित्रण किया गया है।

देश-विभाजन के पूर्व और उसके बाद की परिस्थितियों, जीवन-दशाओं, संघर्षों और समस्याओं को चित्रित करने वाले उपन्यासकारों में यशपाल के अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री (धर्मपुत्र), विष्णु प्रभाकर (निशिकांत), मन्मथनाथ गुप्त (गृहयुद्ध, तूफान के बादल), भीष्म साहनी (तमस), कमलेश्वर (लौटे हुए मुसाफिर), जगदीश चन्द्र (मुट्ठी भर कांकर), राही मासूस रज़ा (आधा गाँव), बलवन्त सिंह (काले कोस), बदीउज्ज्मा (छाको की वापसी), भगवती चरण वर्मा (सीधी सच्ची बातें, प्रश्न और मरीचिका, वह फिर नहीं आई), और कृष्णबलदेव वैद (गुजरा हुआ जमाना) के नाम उल्लेखनीय हैं। देश-विभाजन और उसकी त्रासदी से जुड़े उपन्यासों का यह एक ऐसा कथा-संसार है जो उपन्यासकारों की सामाजिक-सांस्कृतिक चिन्ताओं, समाज-संबद्धता और जागरूकता का सही पता देता है। इन उपन्यासों को पढ़कर इस शताब्दी की सबसे बड़ी त्रासदी (देश विभाजन) के अनेक पहलुओं को जानने-समझने में सुविधा होती है। यह मनुष्यता के अंधकारकाल की लोमहर्षक घटनाओं का जीता-जागता चित्र है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी पिछली पीढ़ी के व्यक्तिवादी, समाजवादी, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना करने वाले उपन्यासकार सक्रिय रहे हैं। सामाजिक एवं मानवतावादी उपन्यासकार अमृतलाल नागर के अनेक महत्वपूर्ण उपन्यास स्वतंत्रता के बाद वाले दौर में प्रकाशित हुए। 'बूँद और समुद्र', 'सुहाग के नूपुर', 'शतरंज के मोहरे', अमृत और विष', 'बिखरे तिनके', 'नाच्यौ बहुत गोपाल','मानस के हंस', 'खंजन नयन' और 'करवट' जैसे उपन्यासों से अमृतलाल नागर को स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में विशेष प्रतिष्ठा मिली। 'बूँद और समुद्र' में उन्होंने व्यक्ति और समाज के संबंध को बूँद और समुद्र के संबंध के रूप में चित्रित किया और व्यक्ति की सामाजिक चेतना को प्रमुखता प्रदान की। 'अमृत और विष' में उन्होंने अंग्रेजी शासन के आरंभ से लेकर स्वातंत्र्योत्तर भारत की जीवन-स्थितियों का सजीव चित्रण किया है। 'नाच्यौ बहुत गोपाल' मेहतर समाज के इतिहास, उनके रीति-रिवाज, वेश-भूषा, बोली-बानी तथा नित्य के दु:ख-दर्द का मार्मिक दस्तावेज तो है ही, सवर्णों के अत्याचार और वर्ण-व्यवस्था की खामियों और बुराइयों का भी उद्घाटक है। अमृतलाल नागर ने 'मानस का हंस' में गोस्वासी तुलसीदास और 'खंजन नयन' में महात्मा सूरदास का जीवन अंकित किया है जो अनुसंधानपूर्ण और कथा-रस प्रधान है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के तीन महत्वपूर्ण उपन्यास - 'चारुचन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' - स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सातवें और आठवें दशक में प्रकाशित हुए। ये उपन्यास द्विवेदी जी की विशिष्ट रचना-शैली, सांस्कृतिक चेतना, ऐतिहासिक संवेदना और स्वच्छन्द-स्वच्छ रोमान्टिक भावना के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। हिन्दी में इन उपन्यासों की अपनी विशिष्ट पहचान है। भगवती चरण वर्मा के 'भूले बिसरे चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'सबहिं नचावत राम गोसाईं', 'सीधी-सच्ची बातें', उपेन्द्र नाथ 'अश्क' के 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', 'शहर में घूमता आईना', 'बांधो न नाव इस ठाँव बन्धु' जैसे सामाजिक

उपन्यास स्वतंत्रता-प्राप्ति के बीस-पच्चीस वर्षों की अवधि में लिखे गये। मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों में इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ', 'जिप्सी', 'जहाज का पंछी', 'भूत का भविष्य', अज्ञेय के 'नदी के द्वीप', 'अपने-अपने अजनबी', सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासकार रांगेय राघव और भैरव प्रसाद गुप्त के अनेक उपन्यास भी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास की अमूल्य निधि हैं। तात्पर्य यह कि बदले हुए सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ के बीच पहले के रचनाकारों ने अपने समय से कभी प्रभावित होकर और कभी उसे प्रभावित करने की भावना से विविध विषयक उपन्यासों की रचना की और हिन्दी उपन्यास की गति को तीव्र से तीव्रतर किया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों की रचना की विशेष प्रवृत्ति का उदय हुआ। इसके शुभारंभ का श्रेय फणीश्वरनाथ 'रेणु' को है। बिहार के अंचल विशेष के जीवन-यथार्थ, रहन-सहन, आचार-विचार को पर्याप्त निजता एवं रागात्मकता के साथ चित्रित करते हुए रेणु ने 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' जैसे उपन्यासों की रचना की। यह स्वातंत्र्योत्तर भारत में एक अंचल की आत्मपहचान से जुड़ी हुई सृजनात्मकता की एक सहज-स्वाभाविक आकांक्षा का प्रतिफल है। प्रेमचंद के बाद भारतीय ग्रामीण जीवन को बदले हुए सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों में नवोन्मेष के साथ चित्रित करने की यह ललक जितनी स्वतंत्रता की क्रोड़ से पैदा हुई है, शहरी जीवन की कुण्ठा, घुटन, एकरसता और आत्माभिमुखता की ऊब से भी प्रकट हुई है। प्रेमचंद के बाद हिन्दी उपन्यास में जो गाँव गायब हो गया था, उसे रेणु ने नये सौन्दर्यबोध और रागात्मकता के साथ चित्रित किया। उनके बाद कई लेखकों ने - जैसे उदयशंकर भट्ट (कब तक पुकारूँ), रामदरश मिश्र (पानी के प्राचीर, जल टूटता हुआ), राही मासूस रज़ा (आधा गाँव), शिवप्रसाद सिंह (अलग-अलग वैतरणी), श्रीलाल शुक्ल (रागदरबारी), हिमांशु जोशी (अरण्य), विवेकी राय (बबूल, पुरुष पुराण, लोकऋण, सोना माटी, समर शेष है) शैलेश मटियानी (कबूतर खाना, दो बूँद जल) शानी (काला जल) आदि - आंचलिक उपन्यासों की रचना करके भारत के विभिन्न अंचलों के जीवन-यथार्थ, आशा-आकांक्षा, संघर्ष-टूटन, राजनीतिक-सामाजिक पिछड़ेपन-जागृति आदि का चित्रण किया। उपन्यासकारों ने विभिन्न अंचलों की जीवन-दशा को अपनी रचना का विषय बनाकर उनके प्रति अपनी करुणा, सहानुभूति और रागात्मकता ही नहीं प्रदर्शित की है, तथाकथित प्रगति और विकास के दावेदारों की आँखों के सामने उपेक्षित और अलग-थलग पड़े अंचलों के दुःख-दर्द को प्रत्यक्ष करके उनके सारहीन, दिखाऊ और प्रवंचनापूर्ण कृत्यों की पोल भी खोली है।

यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है स्वतंत्रता के बाद देश में नयी जीवन-स्थितियाँ पैदा हुईं। पहले उत्साह, ललक और उसके बाद मोहभंग, निराशा, हताशा, कुण्ठा आदि का वातावरण बना। शहरी मध्यवर्ग का विकास और उसके जीवन में तमाम विसंगतियाँ और विडम्बनाएँ पैदा हुईं। जनसंख्या के साथ-साथ मशीनों का उपयोग बढ़ने से भयानक बेकारी, भुखमरी और बेरोज़गारी पैदा हुई। इन सबके साथ ही तरह-तरह की राजनीतिक पैतरेबाजी ने हिन्दी के नये उपन्यासकारों को समसामयिक जीवन-यथार्थ के चित्रण के प्रति सजग, संवेदनशील और प्रतिबद्ध किया है। रचनाकारों में यथार्थ के प्रति आग्रह बढ़ा, अनुभव का सच कहने और लिखने की प्रेरणा जगी तथा 'हम जैसे हैं,वैसे ही दिखें, का यथार्थवादी दृष्टिकोण भी विकसित हुआ। यथार्थ की यह चेतना हिन्दी उपन्यास में कई रूपों में अभिव्यक्त हुई, कभी आधुनिकताबोध के रूप में कभी यथातथ्यवाद के रूप में, कभी मार्क्सवाद और जनवाद के रूप में।

आधुनिकतावाद नगरीकरण की तेज प्रक्रिया, पूँजीवादी लोकतंत्र से मोहभंग, अस्तित्ववादी दर्शन तथा पश्चिमी प्रभाव के फलस्वरूप पैदा हुआ। इसके प्रभावस्वरूप पारंपरिक मूल्य बिखर गये, सामाजिकता की जगह वैयक्तिकता का प्राधान्य हो गया और व्यक्ति अपनी असमर्थताओं-असफलताओं से घिरकर हताश, निराश, कुंठित हो गया। सातवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में आधुनिकताबोध की ये सभी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हुई हैं। इस दृष्टि से मोहन राकेश (अंधेरे बंद कमरे, न आने वाला कल), निर्मल वर्मा (वे दिन), राजकमल चौधरी (मरी हुई मछली, शहर था : शहर नहीं था), महेन्द्र भल्ला (एक पति के नोट्स), उषा प्रियंवदा (रुकोगी नहीं राधिका), शिवप्रसाद सिंह (अलग-अलग वैतरणी), गिरिराज किशोर (यात्राएँ), मणि मधुकर (सफेद मेमने), ममता कालिया (बेघर), मन्नू भण्डारी (आपका बंटी) आदि के उपन्यास पठनीय हैं। इन उपन्यासों का व्यक्ति अकेला, ऊबा हुआ, संत्रस्त, व्यर्थताबोध से पीड़ित, अजनबियत से घिरा हुआ, थका-हारा ऐसा व्यक्ति है जिसको कोई भविष्य नहीं दिखाई देता, न कहीं आशा-उत्साह की कोई किरण दिखाई पड़ती है। इनमें निर्मल वर्मा के उपन्यास और भी विशिष्ट हैं। 'वे

दिन' का परिवेश विदेशी है। इसमें द्वितीय महायुद्धोत्तर काल की योरोपीय युवा पीढ़ी के अर्थहीन यौन-संबंधों, अकेलापन, ऊब, अनास्था, भय, कुण्ठा आदि का चित्रण हुआ है। मोहन राकेश के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन की त्रासदी चित्रित है और राजकमल चौधरी में 'मरी हुई मछली' में अर्थाभाव झेलती हुई स्त्री की देह-गाथा का चित्रण हुआ है। इन उपन्यासों से भिन्न 'आपका बंटी' में उच्च मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण हुआ है यहाँ आधुनिकता फैशन के रूप में नहीं, एक वास्तविकता के रूप में चित्रित है। इस उपन्यास में बेटे की वेदना के माध्यम से एक परित्यक्ता और पुन: विवाहिता माँ की मानसिक यातनाओं का चित्रण सशक्त रूप में किया गया है।

आधुनिकतावादी इन उपन्यासों के विपरीत **प्रगतिवादी विचारधारा** से सम्पन्न आठवें दशक के उपन्यासकारों की वह परंपरा है जिसका गहरा संबंध प्रेमचंद की जनवादी परम्परा से है। इस दृष्टि से **श्रीलाल शुक्ल** (राग दरबारी), **बदीउज्जमा** (एक चूहे की मौत), **जगदीशचन्द्र** (धन धरती न अपना), **काशीनाथ सिंह** (अपना मोर्चा), **गिरिराज किशोर** (जुगलबंदी), **भीष्म साहनी** (तमस), **रमेशचन्द्र शाह** (गोबर गणेश), **जगदम्बा प्रसाद दीक्षित** (मुर्दाघर), **रामदरश मिश्र** (अपने लोग) **राही मासूम रजा** (कटराबी आरजू), **कृष्ण सोबती** (जिन्दगीनामा), मन्नू भण्डारी (महाभोज), **मनोहर श्याम जोशी** (कुरु-कुरु स्वाहा) और **मार्कण्डेय** (अग्निबीज) के उपन्यास उल्लेखनीय हैं। आधुनिकतावादी लेखकों ने जिस जीवन को मध्यवर्गीय जीवन के 'अंधेरे बन्द कमरे' में घुटने के लिए कैद कर दिया था, उसे इन उपन्यासकारों ने जन-जीवन के बीच उन्मुक्त सांस लेने के लिए फिर अवकाश प्रदान किया। व्यंग्य, फैंटेसी, यथार्थ-जनता में क्रांति, विद्रोह, आन्दोलन का भाव जगाकर अपनी दुर्दशा-असहायावस्था से मुक्ति पाने का मार्ग भी दिखाया। इन उपन्यासों में राजनीतिक उठापटक, लोकतंत्र की छीछालेदर, ग्रामीण जीवन की रेंगती-घसीटती जिन्दगी, जातिवादी संघर्ष, साम्प्रदायिक विद्वेश, उन्माद और संघर्ष, मुर्दा होते हुए सामाजिक संबंध, युवा-विद्रोह आदि का जीता-जागता चित्र कभी आलोचनात्मक और कभी व्यंग्यात्मक ढंग से, कभी फैंटेसी के सहारे उपस्थित किया गया है। 'रागदरबारी' की व्यंग्यात्मकता और ' एक चूहे की मौत' की फैंटैसी इस दौर की उपन्यास कला को एक नया आयाम देती है।

20.6.5 समकालीन हिन्दी उपन्यास

वैसे तो सामान्य रूप से स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों की गणना समकालीन हिन्दी उपन्यास के रूप में की जाती है किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में हम पिछले 20-25 वर्षों से लिखे जा रहे उपन्यासों की ही विवेचना करेंगे। इसके दो कारण हैं - एक यह कि हम इस इकाई में पहले ही आठवें दशक तक के उपन्यासों की चर्चा कर चुके हैं, दूसरे समकालीन हिन्दी उपन्यास के ताजा परिदृश्य को रेखांकित करने के लिए पिछले दशक से जारी उपन्यास-यात्रा का विश्लेषण ज्यादा सार्थक है क्योंकि यही हिन्दी उपन्यास के आगामी विकास और भविष्य का सूचक है।

नवें दशक में भी पिछले दशक के कई उपन्यासकारों के नये उपन्यास प्रकाश में आये हैं। जैसे - 'रात का रिपोर्टर' (निर्मल वर्मा), 'मय्यादास की माड़ी'(भीष्म साहनी), 'बिना दरवाजे के मकान', 'दूसरा घर'(रामदरश मिश्र) 'नीला चाँद' (शिवप्रसाद सिंह), 'हुजूर दरबार', 'तुम्हारी रोशनी में', धीर समीरें' (गोविन्द्र मिश्र), 'बंधन', 'अधिकार', 'कर्म', 'अभिज्ञान' (नरेन्द्र कोहली), 'सोना माटी' (विवेकी राय) आदि। नवें दशक से जिन उपन्यासकारों ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई उनमें मनोहर श्याम जोशी (कुरु-कुरु स्वाहा, कसप, हरिया हरिकुलिस), अब्दुल बिस्मिल्लाह (झीनी-झीनी बीनी चदरिया, दंतकथा, जहरबाद), मंजूर एहतेशाम (सूखा बरगद), संजीव (सर्कस, सावधान नीचे आग है) के नाम उल्लेखनीय हैं। वर्तमान दशक में वीरेन्द्र जैन (डूब, पार, पंचनामा), कमलाकांत त्रिपाठी (पाहीघर), पंकज विष्ट (उस चिड़िया का नाम), प्रियंवद (वे वहाँ कैद हैं) आदि ने हिन्दी उपन्यास में नयी रचनाशीलता को सार्थक ढंग से प्रत्यक्ष किया है। बीतते हुए दशक और समाप्त होती बीसवीं शताब्दी की एक अनूठी रचना है 'मुझे चाँद चाहिए' (सुरेन्द्र वर्मा)। इसने हिन्दी उपन्यास को एक नया जीवन प्रदान किया है। इसकी भाषा-शैली इतनी रोचक और आकर्षक है कि पाठक पूरी तरह इसमें तल्लीन हो जाता है। जनवादी, मार्क्सवादी और क्रान्तिकारी रचनाओं के बीच यह मानवीय भावनाओं का भिन्न स्वाद देने वाली विशिष्ट रचना है।

उपर्युक्त उपन्यासों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि समकालीन हिन्दी उपन्यास में किसी खास प्रवृत्ति या विचारधारा का प्रभाव या दबाव नहीं है। इन उपन्यासों में विषयगत विविधता तो है ही, शिल्पगत

नवीनता और प्रयोगशीलता भी विद्यमान है इसीलिए ये उपन्यास किसी परम्परा में अन्तर्भुक्त न होकर अपनी विशिष्ट पहचान बनाते हैं। 'कुरु कुरु स्वाहा' की रोमैण्टिक कथा और बम्बइया हिन्दी कथा का अलग रंग है तो 'कसप' में उत्तर आधुनिकता की झाँकी विद्यमान है, 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में बनारस के बुनकरों का जीवन-यथार्थ और संघर्ष उन्हीं की बोली-बानी में है तो 'सूखा बरगद' में हिन्दी-मुस्लिम संबंध, 'डूब' में मध्यप्रदेश के पिछड़े अंचल की व्यथा-कथा है तो 'उस चिड़िया का नाम' में पहाड़ी जीवन का संघर्ष, 'मय्यादास की माड़ी' में पंजाब की तीन पीढ़ियों का इतिवृत्त है। 'पाहीघर' में ब्रिटिश शासन के समय के अवध जनपद की संघर्ष-गाथा अंकित है। अन्य विधाओं के रचनाकारों की अपेक्षा वर्तमान उपन्यासकार वैचारिक कठमुल्लेपन और सीमित जीवनानुभव की बंदिशों से काफी मुक्त हैं।

स्वातंत्र्योत्तर काल से हिन्दी उपन्यास में महिला कथाकारों की एक सशक्त पीढ़ी भी तैयार हुई, जिसने अपने रचना-संसार को विशिष्ट रूप-रंग प्रदान करके उसे एक नयी पहचान दी है। शशिप्रभा शास्त्री, शिवानी, कृष्णा सोबती, दीप्ति खण्डेलवाल, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, निरुपमा सेवती, मेहरुन्निसा परवेज, राजी सेठ, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, मृणाल पाण्डेय, नासिरा शर्मा, सूर्यबाला, प्रभा खेतान आदि ने अन्य उपन्यासकारों के बीच अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराई है। सातवें दशक में उषा प्रियंवदा (पचपन खंभे लाल दीवारें), मन्नू भण्डारी ('एक इंच मुस्कान' - सहलेखन के तौर पर) और कृष्णा सोबती (मित्रो मरजानी) ने जो सृजन-यात्रा शुरू की, वह उत्तरोत्तर गति पाती गई। बाद में मन्नू भण्डारी ने 'आपका बंटी', 'महाभोज'; बोल्डनेस के लिए ख्यात कृष्णा सोबती ने 'सूरजमुखी अंधेरे के', 'जिन्दगीनामा', 'दिलोदानिश' और उषा प्रियंवदा ने 'रुकोगी नहीं राधिका' जैसे उपन्यास लिखकर अपने को हिन्दी उपन्यास-जगत् में पूरी तरह प्रतिष्ठित कर लिया। आठवें दशक में मृदुला गर्ग (चितकोबरा), ममता कालिया (नरक दर नरक), मृणाल पाण्डेय (पटरंग पुराण); नवें दशक में राजी सेठ (तत्सम), नासिरा शर्मा (शाल्मली, ठीकरे की मंगनी, जिन्दा मुहावरे) ने अपनी पहचान बनाई। वर्तमान दशक में प्रभा खेतान (छिन्नमस्ता, तालाबन्दी, अपने-अपने चेहरे) और मैत्रेयी पुष्पा (इदन्नमम) ने अपने को प्रतिष्ठित कर लिया है।

इन उपन्यास-लेखिकाओं ने सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ पर जैसी विचारोत्तेजक कृतियाँ दी हैं, उनसे साफ तौर पर जाना जा सकता है कि उनके पास अनुभव-वैविध्य भी है और रचनात्मक दृष्टि भी। 'आपका बंटी', 'महाभोज', 'जिन्दगीनामा' जैसे उपन्यास समकालीन हिन्दी उपन्यास को प्रत्येक दृष्टि से समृद्ध करने वाले उपन्यास हैं।

20.7 हिन्दी उपन्यास में दलित चेतना

हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य की पृथक धारा का जोर दिखाई पड़ने लगा है किन्तु हिन्दी उपन्यास में अभी यह बड़े क्षीण रूप में विद्यमान है। जयप्रकाश कर्दम के 'छप्पर' (1994) और प्रेम कापड़िया के 'मिट्टी की सौगन्ध' (1995) से हिन्दी में दलित-उपन्यास की वह परम्परा शुरू हो रही है जिसे दलितों के द्वारा दलितों के जीवन पर लिखा जाने वाला साहित्य कहा जाता है। इन उपन्यासों में दलित जीवन का भोगा हुआ यथार्थ चित्रित हुआ है।

यदि 'दलितों के द्वारा दलितों के जीवन का साहित्य' की अवधारणा को थोड़ी देर के लिए अलग करके मानवता की व्यापक अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में साहित्य में अभिव्यक्त दलित चेतना की बात करें तो कहना पड़ेगा कि प्रेमचंद से लेकर आज तक अनेक गैरदलित साहित्यकारों ने दलितों के जीवन पर प्रकाश डालने वाले और उनके संघर्ष को शक्ति और दिशा देने वाले अनेक उपन्यासों की रचना की है। प्रेमचंद के 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' और 'गोदान' उपन्यासों में जो दलितों की पीड़ा, दुर्दशा और संघर्ष-कथा वर्णित है वह महज दया या सहानुभूति से नहीं उपजी है, उसके पीछे प्रेमचंद का प्रगतिशील दृष्टिकोण और उस जीवन का मार्मिक साक्षात्कार सक्रिय है। 'नाच्यौ बहुत गोपाल' (अमृतलाल नागर), 'धरती धन न अपना', 'नरककुंड में वास' (जगदीश चन्द्र), 'एक टुकड़ा इतिहास' (गोपाल उपाध्याय), 'परिशिष्ट' (गिरिराज किशोर), उत्तर-गाथा (मधुकर सिंह), 'दण्ड विधान' (मुद्राराक्षस), 'बंधुआ रामदास' (नीलकांत), 'महाभोज' (मन्नू भण्डारी), 'गगन घटा घहरानी' (मनमोहन पाठक), 'पाथर घाटी का शोर' (पुन्नी सिंह) आदि उपन्यासों में दलित जीवन पर जो प्रकाश डाला गया है, वह अनुभूत यथार्थ लिखने वाले दलित लेखकों के

साहित्य से किसी भी तरह कम नहीं है। इन उपन्यासों में समाज के सदियों से सताए, उपेक्षित, शोषित और दलित लोगों का जीवन अंकित करते समय न केवल सामाजिक जीवन की जड़ता, क्रूरता और अमानवीयता को रेखांकित किया गया है, बल्कि दलितों में अपने हक के लिए संघर्ष करने और सबके समान जीवन जीने की भावना को प्रेरित किया गया है। यदि दलितों की साहित्य-धारा इस चेतना में योग देकर या उससे जुड़कर विकास का मार्ग तलाशे तो इससे एक स्वस्थ दृष्टिकोण का निर्माण होगा और समाज की वास्तविक उन्नति का मार्ग प्रशस्त होगा।

20.8 हिन्दी उपन्यास - शिल्प का विकास

किशोरी लाल गोस्वामी के 'परीक्षा गुरु' से शुरू हुई हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा आज भी अपने विघ रूप-रंगों के साथ जारी है। लगभग सवा सौ वर्षों की इस अवधि में कथ्य, शिल्प और संवेदना की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास में कई तरह के परिवर्तन परिलक्षित हुए हैं। ये परिवर्तन कभी परिस्थितियों के दबाव से पैदा हुए, कभी रचनाकार की व्यक्तिगत आकांक्षा और प्रयोगशील चेतना के कारण।

जब हम हिन्दी उपन्यास के शिल्प-विकास पर दृष्टि डालते हैं तो हमें यह देखकर सुखद अनुभूति होती है कि हिन्दी उपन्यास अल्पकाल में ही काफी प्रौढ़ हो गया और उसमें प्रगति और प्रयोग की गति बराबर तीव्र से तीव्रतर होती गई। हिन्दी उपन्यास का प्रारंभिक शिल्प शिथिल और स्फीति-प्रधान रहा। उसमें मनोरंजन, वर्णन, स्थूलता और उपदेशात्मकता की ही प्रमुखता रही। इसका एक कारण तो यह था कि प्रारंभिक उपन्यासकार उपदेश और शिक्षा देने और समाज-सुधार की भावना से उत्प्रेरित था, दूसरा यह कि उसका कथा-रचना संस्कार अंग्रेजी के 'नावेल' और बंगला उपन्यास के साथ ही संस्कृत की कथा-आख्यायिका तथा हिन्दी की मध्ययुगीन प्रेम-कहानियों के सम्मिलित प्रभाव से निर्मित हुआ था। जैसे-जैसे हिन्दी उपन्यास प्राचीन संस्कारों से मुक्त होता गया, वैसे-वैसे वह अंग्रेजी ढंग के 'नावेल' की कला को आत्मसात करता गया। बाद में उसमें युगानुरूप परिवर्तन और विकास के लक्षण प्रकट हुए।

प्रारंभ में हिन्दी उपन्यास में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं - एक प्रवृत्ति मनोरंजन की थी और दूसरी सामाजिक जागरण की। इन प्रवृत्तियों का उपन्यासों के रचना-शिल्प पर प्रभाव पड़ा है। ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों में अद्भुत, अलौकिक, रहस्यमय घटना-व्यापारों की प्रमुखता थी। इन उपन्यासों के द्वारा मानव-मन की चमत्कार-प्रियता को ही बल मिला और उसकी कुतूहलवृत्ति को शान्ति मिली। इसके लिए उपन्यासकारों ने ऐयारों के विस्मयकारी कृत्यों और तिलस्मों की आश्चर्यजनक योजना में ही अपने कौशल को खपा दिया।

उन्होंने इस जगत के दु:ख-ताप, असंतोष, हाहाकारे के नीरस वातावरण से दूर ले जाकर पाठक को एक जादुई संसार में छोड़ देने का कार्य किया। इस सत्य के बावजूद यह ध्यातव्य है कि इन उपन्यासकारों ने अपने अद्भुत रचना-कौशल, कल्पना-वैभव और बुद्धिमता का परिचय दिया है। घटनाओं का एक जटिल, सघन, दुरूह जाल दूर तक फैलाकर अन्त में अपनी विलक्षण स्मृति के बल पर उन्हें फिर समेट कर लक्ष्य तक ले जाना सामान्य बुद्धि और प्रतिभा के बूते की बात नहीं है। फिर भी यह कहा जाएगा कि मनुष्य की औत्सुक्य-वृत्ति को ही तृप्त करना इनका उद्देश्य रहा है। उसके मानसिक, नैतिक और सांस्कृतिक विकास के प्रति ये पूरी तरह बेखबर रहे हैं।

दूसरी तरफ सामाजिक उपन्यासों में मनोरंजन की प्रधानता के बावजूद समाज-सुधार और कल्याण की भावना निहित थी। परिवर्तित सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का इन उपन्यासों पर प्रभाव पड़ा है। इसके फलस्वरूप उनके ढाँचे में भी परिवर्तन हुआ। कुतूहलपूर्ण, आकस्मिक, अतार्किक घटनाओं की जगह सामाजिक जीवन से घटनाएँ चुनी गईं और उन्हें यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया गया। सामाजिक पक्ष की ओर आकृष्ट होने के बावजूद युग-रुचि की सीमाओं तथा उच्चकोटि की रचनात्मक प्रतिभा के अभाव के कारण प्रारंभिक सामाजिक उपन्यास स्थूल, वर्णनात्मक और घटना-प्रधान ही बना रहा। कलात्मक संयम के अभाव में वस्तु-विन्यास भी सुगठित न हो सका। बीच-बीच में लेखक के उपदेशक रूप के हस्तक्षेप से कथा में शिथिलता, स्फीति और विशृंखलता भी जाती रही।

हिन्दी उपन्यास-शिल्प को प्रौढ़ता मिली प्रेमचंद के उपन्यासों में। उनके उपन्यासों में समाज-चित्रण के साथ-साथ चरित्र-चित्रण और जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति को महत्व मिला। कल्पना, रोमांस एवं चमत्कार-प्रदर्शन के इन्द्रजाल से विमुक्त होकर उन्होंने सामाजिक यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े होकर सामाजिक उपन्यासों की रचना की। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रेमचंद ने हिन्दी कथा-संसार से राजा-रानी, देवी-देवता को विदा दे दी और साहित्य के मंच पर सूरदास, होरी, गोबर, धनिया जैसे दलित-शोषित-उपेक्षित पात्रों को उनकी सम्पूर्ण दशा-दुर्दशा के साथ प्रतिष्ठित कर जन-पक्षधरता का प्रगतिशील दृष्टिकोण विकसित किया जो आज भी अपने सबल रूप में विद्यमान है। उनके प्रारंभिक उपन्यासों - 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' आदि में पहले आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और बाद में 'गोदान' में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद की अभिव्यक्ति हुई है। इन दृष्टियों का प्रभाव उनके उपन्यास-शिल्प पर पड़ा है। प्रेमचंद के उपन्यासों में कथावस्तु, चरित्र, कथोपकथन, देशकाल एवं वातावरण तथा भाषा-शैली आदि पर समुचित ध्यान दिया गया है और यह कोशिश की गई है कि रचना प्रभावशाली, सुगठित, मार्मिक और संप्रेषणीय हो। यद्यपि प्रेमचंद के उपन्यासों में घटना-वर्णन की प्रधानता के कारण कुछ स्थूलता और शिथिलता है, किन्तु अपेक्षाकृत उनके उपन्यास सुगठित हैं। वे कला की प्रौढ़ता का भी पता देते हैं। प्रेमचंद की कथा-सृष्टि और तत्संबंधी उनकी दृष्टि का हिन्दी उपन्यास साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। हिन्दी उपन्यास समाज-चित्रण की ओर अग्रसर हुआ और उसमें बहुरंगी यथार्थ को स्थान मिला।

प्रेमचंद-युग में उपन्यास-कला का जो विकास हुआ, उसमें वर्णन-प्रियता और बाह्य-घटनात्मकता की प्रवृत्ति प्रबल रही। चरित्रों के आदर्शीकरण और घटनाओं की निर्णयात्मक परिणति पर बल अधिक रहा। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी आदि मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों ने उपन्यास को बाह्य-वर्णन से हटाकर आंतरिक चित्रण में प्रवृत्त किया। इससे कथानक की स्थूलता समाप्त हुई और अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन प्रमुख रहा। इन उपन्यासकारों ने उपन्यास के नवीन रूप-विधान और तत्संबंधी प्रयोग पर बल दिया। प्रेमचंद-युग में एक विस्तृत चित्रपट पर, कार्य-कारण शृंखला से युक्त, सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित कथा के द्वारा जीवन को उसकी संपूर्णता में चित्रित करने का प्रयास किया गया था, प्रयोगवादी उपन्यासकारों ने प्रयोग को महत्व दिया। अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' से हिन्दी में एक अभिनव प्रयोग का सार्थक रूप प्रस्तुत किया। उन्होंने कथा-विन्यास में पात्रों के मनोविश्लेषण और सूक्ष्म अन्तर्दशाओं के चित्रण की कला का तो उपयोग किया ही, पूर्व दीप्ति शैली का प्रभावशाली प्रयोग भी किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में कथा-आख्यायिका की प्राचीन शैली और चरित्र-वर्णन की आधुनिक शैली का ऐसा सम्मिलित प्रयोग किया है कि यह उपन्यास हर दृष्टि से अभिनव एवं विशिष्ट हो गया है।

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों ने कथानक, चरित्र-चित्रण, देश-काल और वातावरण, भाषा-शैली आदि से संबंधित दृष्टि में व्यापक परिवर्तन किया और इन्हें नयी ऊर्जा प्रदान की। कथानक तो दूर, घटना तक की संकल्पना बदल गई। देश, काल, परिस्थिति और वातावरण जो पहले पृष्ठभूमि का काम करते थे, अब उपन्यास के आलंबन बन गये। आंचलिक उपन्यासकारों ने तो अंचल विशेष के सौन्दर्य, जीवन और वातावरण को उपन्यास का मुख्य उपजीव्य बना दिया। वातावरण या परिवेश का यथार्थ चित्रण इन उपन्यासों के लिए महत्वपूर्ण हो गया। इसके लिए उन्हें उसी अंचल की भाषा भी अपनानी पड़ी।

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में उपन्यास-कथा सरल-सीधी न रहकर जटिल एवं संश्लिष्ट हो गई। अनेक आत्मकथाओं से एक कथानक की सृष्टि का कौशल प्रभाकर माचवे के 'परन्तु' और भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'सपना बिक गया' में देखा जा सकता है। इसी तरह विविध कथाओं के सहारे एक शृंखला और तारतम्यहीन कथा की चरम परिणति 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में देखी जा सकती है। ये अभिनव प्रयोग हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा के उपन्यास 'खाली कुर्सी की आत्मकथा' में आत्मकथात्मक शैली का जो व्यंग्यपूर्ण उपयोग किया गया है, वह भी उपन्यास के नये शिल्प-सौन्दर्य का एक नमूना है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी उपन्यास के शिल्प में अभूतपूर्व विकास हुआ। आत्मकथात्मक शैली, पत्र-शैली, डायरी शैली, रिपार्ताज शैली, रेखाचित्र शैली या इन सबका सम्मिलित उपयोग करके चलने वाली शैली में कई विशिष्ट उपन्यास लिखे गये हैं। चरित्र-चित्रण के लिए चेतना-प्रवाह, पूर्वदीप्ति, मुक्त आसंग, स्वप्न-विश्लेषण, सम्मोहन, दिवास्वप्न आदि का भी सहारा लिया गया है। यह कला मनोवैज्ञानिक एवं व्यक्तिवादी उपन्यासों में अधिक दिखाई पड़ती है।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में वातावरण की सृष्टि के लिए ध्वनि-चित्रों, प्रतीक-संकेतों का भी भरपूर उपयोग हुआ है। लक्ष्मी नारायण लाल के उपन्यास 'बया का घोसला और साँप' का शीर्षक ही प्रतीकात्मक है। नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' और कमलेश्वर के 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' में सांकेतिकता है; गिरिराज किशोर के 'इन्द्र सुने' में फंतासी है। श्रीलाल शुक्ल का 'रागदरबारी' तो आद्योपान्त व्यंग्यात्मक है। सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए' हिन्दी उपन्यास में एक अभिनव प्रयोग है जिसमें प्रसिद्ध साहित्यकारों - शेक्सपीयर, कालिदास आदि की रचनाओं के संवाद और अंश इस उपन्यास के पात्रों के संवाद और तथ्य बन गये हैं। इसमें उपन्यास और नाटक के तत्व पूरी तरह घुलमिल गये हैं।

20.9 सारांश

इस इकाई में आपने हिन्दी कथा साहित्य के अन्तर्गत हिन्दी कहानी एवं हिन्दी उपन्यास के विकास का अध्ययन किया। आपने देखा कि आधुनिक विधा के रूप में हिन्दी कहानी का तीव्र एवं अनेक आयामी विकास हुआ है। आरंभ से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति तक बृहत्तर जीवन संदर्भों से जुड़ने और समय-समय पर बड़े कहानीकारों की कला का सहारा पाने के कारण हिन्दी कहानी के कथ्य और शिल्प में बराबर परिवर्तन होता रहा। प्रेमचंद ने जहाँ इसे आरंभ में आदर्शवाद, सुधारवाद से संयुक्त करके अपने समय की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला, वहीं बाद में इसे यथार्थवादी शिल्प भी प्रदान किया और इसके सामाजिक आधार को पुष्ट किया। आपने यह भी देखा कि विभिन्न कहानी आन्दोलनों ने हिन्दी कहानी को बराबर एक नयी दिशा दी है। इन आन्दोलनों ने यदि हिन्दी कहानी के कथ्य और शिल्प में व्यापक परिवर्तन उपस्थित किया है तो उसकी कुछ सीमाएँ भी निर्धारित की हैं।

हिन्दी उपन्यास के विवेचन में आपने पढ़ा कि कथ्य के अनुरूप ही उपन्यास शिल्प में परिवर्तन और प्रयोग को बढ़ावा मिला। प्रेमचंद-पूर्व हिन्दी उपन्यासों की रचना नवीन सामाजिक मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त माध्यम की खोज के परिणामस्वरूप शुरू हुई थी, लेकिन जल्दी ही लेखकों के बड़े समूह ने पाठकों को प्रेम प्रधान, रोमांचकारी साहसिक तथा अद्‌भुत-घटना प्रधान उपन्यासों के कुतूहल-पूर्व मनोरंजन में निमग्न कर दिया। प्रेमचंद युग में सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ को विषय बनाकर उपन्यास रचना की गई। प्रेमचंद के बाद कथाकारों में अपने समय के परिवर्तनों, दबावों और आग्रहों के अनुसार जो वैचारिक परिवर्तन उपस्थित हुए, इनसे उपन्यास शिल्प भी प्रभावित हुआ। इस तरह यथार्थ के साथ दृष्टि बदली, शिल्प बदला और हिन्दी उपन्यास में बराबर प्रगति और प्रयोग का नवोन्मेष जारी रहा।

20.10 अभ्यास प्रश्न

1. आरंभिक हिन्दी कहानी से लेकर प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी के विकास पर प्रकाश डालिए।
2. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के विभिन्न आंदोलनों की चर्चा कीजिए।
3. समकालीन हिन्दी उपन्यासों के विषय एवं शिल्प का परिचय दीजिए।
4. हिन्दी कहानी एवं उपन्यास में दलित चेतना का विवेचन कीजिए।

इकाई 21 हिंदी नाट्य साहित्य

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

यह इकाई हिन्दी नाट्य साहित्य से संबंधित है। इस इकाई में हिंदी नाटक, रंगमंच और एकांकी के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इस इकाई को पढ़ाने के बाद आप :

- नाटक विधा के शैली-शिल्पगत मर्म को समझ सकेंगे;
- नाटक और रंगमंच के अंत:संबंध की चर्चा कर सकेंगे;
- आधुनिक हिंदी नाटक से पूर्व के नाट्य-लेखन एवं प्रदर्शन की स्थिति को जान सकेंगे;
- आधुनिक हिंदी नाटक (भारतेंदु काल से आज तक के) के मौलिक स्वरूप की चर्चा कर सकेंगे;
- विभिन्न नाट्य धाराओं की निजी प्रवृत्तियों को पहचान सकेंगे; और
- हिंदी नाटक की नई-नई धाराओं को जन्म देने वाले नाटककारों के योगदान का विवेचन कर सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

नाटक में कथोपकथन मूलक भाषिक संरचना के अतिरिक्त कलाओं का भी प्रयोग सुलभ होता है। नाटककार नाटक की अभिव्यक्ति में कथोपकथनमूलक भाषा, नृत्यकला, नृत्तकला, वाद्यकला, संगीतकला, वास्तु-शिल्प आदि अभिव्यक्ति के सभी माध्यमों को अपना सकता है। कला के इन सभी माध्यमों का यथोचित उपयोग करते हुए वह नाट्य प्रदर्शन को, (अभिनय को) रोचक या रंजक तथा अर्थवान बनाने का प्रयत्न करता है। इन विविध कलाओं के संयोग से नाटक का अभिनय दर्शक को मंत्रमुग्ध करने वाला बन जाता है।

नाटक में कथोपकथनमूलक भाषा की नाटकीयता का सौंदर्य क्रियाशीलता को उकसाने में होता है, घटनाओं और स्थितियों का केवल वर्णन करने में नहीं। रंगमंचीय गत्यात्मकता ही नाटक का मूल मर्म है। नाटक की भाषा हरकत की भाषा होती है। नाट्य या अभिनय (नाट्य तत्राभिनेयम्-सहित्य दर्पण, आचार्य विश्वनाथ) के लिए प्रयोग किए जाने वाले शब्द या वाक्य तभी सार्थक एवं कलात्मक माने जाते हैं। जब वे

कायिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य अभिनय को उकसाते या प्रेरित करते हैं। नाट्य-प्रदर्शन को कालिदास ने इसीलिए चाक्षुष यज्ञ कहा है। नाट्य-वस्तु को रूपायित करते हुए नाटककार अभिनयगर्भित संवाद, दृश्यबंध, दृश्य-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था, ध्वनि-प्रभाव आदि के समुचित संयोजन को लक्ष्य कर नायक या पात्रों की अवस्थाओं (जीवन की दशाओं) को क्रियात्मक (गतिशील) रूप में प्रत्यक्ष करता है। साहित्य की दूसरी विधाओं (जैसे उपन्यास कहानी, निबंध, रेखाचित्र, यात्रावृत्तांत, महाकाव्य, खंडकाव्य, प्रगीत आदि) में लेखक या रचनाकार वर्णनात्मक, चित्रात्मक एवं संगीतात्मक भाषा के जरिए ही विषयवस्तु को प्रकट करता है, किंतु नाटक में अभिनय के जरिए विषयवस्तु (कथानक) को प्रत्यक्ष घटित होते हुए दिखलाया जाता है। इसी अर्थ में नाटक, साहित्य की अन्य विधाओं से भिन्न है। गत्यात्मकता नाटक का प्रमुख तत्व है। पात्रों के संवाद और अभिनय के माध्यम से नाटक की कथावस्तु कुतूहलगर्भित रूप में उत्तरोत्तर सानुरूप नाट्य-प्रयोत्या (सूत्रधार) या निर्देशक, विभिन्न रंगकार्मिक के सहयोग से दृश्य, दृश्यसज्जा, प्रकाश-व्यवस्था, वाद्य-संगीत के प्रयोग और ध्वनि-प्रभाव के द्वारा दर्शक के लिए नाट्यवस्तु की संवेदना के संप्रेषण को अधिक चटकीला या प्रभविष्णु बनाते हैं। इसीलिए 'काव्येषु नाटक रम्यम्' उक्ति प्रसिद्ध है। इस इकाई में हम प्रवृत्तियों के आधार पर नाटक के विकास, उसकी अंतर्वस्तु एवं शिल्प पर विचार करेंगे।

21.2 आधुनिक नाटक-रचना में संघर्ष एवं अंतर्द्वंद्व

नाटक की गत्यात्मकता का रहस्य, भावों-विचारों से प्रेरित अंतर्बाह्य संघर्ष में निहित होता है। अतः कुछ पाश्चात्य नाट्य-विचारक तनाव और संघर्ष की दशाओं की अभिव्यक्ति को ही नाटक का प्रधान तत्व मानते हैं। इस विचारधारा से भारतेंदु के बाद हिंदी नाट्य-प्रयोग विशेष प्रभावित हैं। भारतीय परंपरा के रसवादी नाटकों में अंतर्द्वन्द्व के तनाव का कोई महत्व नहीं था। ऐसा चित्रण रसनिष्पत्ति का बाधक बन सकता है। इसी कारण प्राचीन रसवादी भारतीय नाट्य-परंपरा में अंतर्द्वन्द्व उस रूप में नहीं मिलता, जिस रूप में पाश्चात्य नाटकों में प्रकट होता है।

21.3 हिंदी नाटक का विकास

21.3.1 पूर्वपीठिका

नाट्य-लेखन एवं प्रयोग-विज्ञान (अभिनय) की भारतीय परंपरा बहुत पुरानी है। संस्कृत साहित्य में नाट्य-रचना और रंगमंचीय प्रदर्शनों का एक लम्बा इतिहास रहा है। किंतु मध्य-युग में आकर प्रेक्षागृहों और नाट्य-प्रदर्शनों का क्रमशः ह्रास होता गया। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में नटों के प्रति हेय भावना व्यक्त किए जाने के कारण रंगकर्मियों एवं अभिनेताओं की प्रतिष्ठा घटी। विदेशी आक्रमणों ने भी राज़प्रासादों से जुड़ी हुई रंगशालाओं को तहस-नहस कर दिया। जयशंकर प्रसाद लिखते हैं कि "मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहाँ की प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया।'' (काव्य-कला तथा अन्य निबंध,) 11वीं-12वीं शताब्दी तक आते-आते नाट्य-लेखन रंगभूमि के जीवित संदर्भ से कट गया। इतिवृत्तमूलक संवादात्मक काव्य को ही नाटक कहा जाने लगा। मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में ब्रजभाषा हिंदी में भी कुछ ऐसे नाटक प्रणीत हुए जिनकी मूल प्रकृति तो काव्यपरक ही है, किंतु संवाद-शैली में रचे जाने कारण उन्हें नाटक की संज्ञा दे दी गई है। कुछ उल्लेखनीय नाटक इस प्रकार हैं :

'रामायण महानाटक' - प्राणचन्द चौहान (सन् 1610 ई), 'करुणाभरण' - लछिराम (सन् 1657 ई.) 'शकुन्तला' - नेवाज (सन् 1680 ई.), 'आनन्द रघुनन्दन' - महाराज विश्वनाथ (सन् 1700 ई.), 'रामकरुणाकर' एवं 'हनुमन्नाटक' - उदय (सन् 1840 ई.) इत्यादि। इनकी सृजनात्मक प्रवृत्ति तत्वतः नाट्योपयोगी उतनी नहीं है जितनी कि काव्योपजीवी है। वस्तुतः उक्त कृतियाँ संवाद-शैली में रचित पद्यात्मक प्रबंध काव्य के ही रूप हैं। 'आनन्द रघुनंदन' की रचना में यद्यपि नाटक रचना के शास्त्रीय नियमों को अपनाया तो गया है परंतु आगे के हिंदी नाटक के विकास को वह दिशा नहीं देता। उसमें नान्दी, विष्कंभक, भरतवाक्य आदि नाटक-रचना की शास्त्रीय विधियों को अपनाया गया है, तथापि आगे के हिंदी नाट्य-लेखन को उससे कोई सार्थक दिशा नहीं मिली। नाट्य-वस्तु एवं शैली-शिल्प की दृष्टि से हिंदी नाटक के आधुनिक मौलिक स्वरूप का विकास भारतेंदु के नाट्य-प्रयोगों में ही प्रतिफलित हुआ।

अपने 'नाटक' नामक निबंध में तो भारतेंदु ने स्वयं यह लिखा है कि हिंदी में पहले दो ही नाटक लिखे गए थे - महाराज विश्वनाथ कृत ' आनन्द रघुनन्दन' नाटक और गोपालचन्द का 'नहुष' नाटक। ये भी ब्रजभाषा में ही लिखे गए थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य-साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ। भारतेंदु से पहले 'नाटक' के नाम दो-चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए थे, उनमें विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' को छोड़कर किसी में नाटकत्व न था।'' (हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण,)। पुन: वे लिखते हैं कि "जब भारतेंदु अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिंदी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया।'' इस प्रकार हिंदी नाटक की अविच्छिन्न परंपरा भारतेंदु और भारतेंदु मंडल के अन्य नाटककारों- प्रताप नारायण मिश्र, श्री निवास दास, बदरी नारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास आदि के नाटकों से ही शुरू हुई समझी जाने लगी। इसके पीछे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह मान्यता भी निहित थी कि "साहित्य, शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों'' का प्रतिफलन है। ('हिंदी साहित्य का इतिहास' वक्तव्य)। शिक्षित जनता से अभिप्राय: उन पढ़े-लिखे चिंतक मनीषियों से है, जो अपने समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक, वैयक्तिक और राजनीतिक-आर्थिक दशाओं के बारे में सोचने-विचारने की क्षमता रखते हैं, और नये-नये जीवन मूल्यों को सुझा सकते हैं। सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के लिए युग-विशेष में क्या प्रयोजनीय है, क्या प्रयोजनीय नहीं है, इसका विवेक रखते हैं।

अंग्रेजी राज्य स्थापित होने पर रंग-कार्य एवं नाट्य प्रदर्शनों को पुन: नया जीवन मिला। पारसी रंग कंपनियाँ स्थापित हुई और नाट्य प्रदर्शन के व्यवसाय में लगीं। भारतेंदु के नाट्य-लेखन के कुछ पहले से ही लिखे और खेले जाने वाले पारसी नाटकों को हिंदी नाटक साहित्य में स्थान नहीं दिया गया, क्योंकि उनकी प्रदर्शनी शैली और भाषा शिष्ट जनोचित नहीं थी। यह एक व्यावसायिक रंगमंच था, जिसका आरंभ 'हिंदू ड्रमैटिक कोर' की स्थापना के साथ हुआ। इस कंपनी के तत्वावधान में 1 मार्च, 1853 ई. को एक मराठी नाटक खेला गया था। इसी वर्ष लखनऊ में अमानत कृत 'इन्दर सभा' का भी अभिनय संपन्न हुआ। इसकी रचना अमानत ने सन् 1848 ई. में की थी यह नाटक उर्दू भाषा में था, जिसे कुछ भाषाविद् हिंदी की एक शैली मानते हैं। नाटक का प्रदर्शन पारसी रंग शैली में किया गया था। पारसी रंग-शैली नाच-गान बहुल तथा सीन-सीनरियों की अतिरिक्त तड़क-भड़क से युक्त, फूहड़ हास्य से दर्शक का मनोरंजन करने वाली प्रदर्शन-विधियों या रीतियों को ही महत्व देती थी। इसमें संस्कृतियों और कला के प्रति वह प्रतिबद्धता नहीं थी, जो शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों वाले साहित्य में अपेक्षित है। सन् 1853 से सन् 1900 ई. तक पारसी रंग-कंपनियाँ जगह-जगह घूम-घूमकर नाटक खेला करती थीं। ये सस्ते मनोरंजन प्रधान नाटकों को प्रदर्शित करके असंस्कृत अभिरुचि वाली जनता को रंजित करते थे। उनके दर्शक ऐसे लोग ही थे, जो शेखी और शोखी गानों की, पैर पटककर संवाद बोलने या फालतू उछल-कूद वाली शारीरिक क्रियाओं, भड़कीली सीन-सीनरियों की शोभा से ही रीझने वाले थे। इन नाट्य-प्रदर्शनों में किसी सांस्कृतिक, सामाजिक या राष्ट्रीय नवनिर्माण के प्रति कोई प्रतिबद्धता लक्षित नहीं थी, जो आधुनिक युग की नयी बौद्धिक, तार्किक एवं यथार्थ बोध मूलक शिक्षितों की जन-चेतना का अभिन्न अंग बन रही थी। स्पष्ट है कि इस दौर के (सन् 1853-1900 ई. तक के) पारसी रंग-नाटकों ने आधुनिक पुनर्जागरण की दिशा में कोई योगदान नहीं दिया इसलिए ऐसे नाटकों की साहित्य में गणना नहीं की गई।

20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में आकर पारसी थियेटर के हिंदी नाटकों का स्वर बदलने लगा। इस थियेटर से सीधे जुड़े हुए कतिपय नाटककार, जैसे नारायण प्रसाद 'बेताब', मुंशी मुहम्मदशाह आगा 'हश्र' तथा राधेश्याम कथावाचक भारतीय संस्कार और नैतिक मूल्यबोध के नाटकों की रचना में प्रवृत्त हुए। इस प्रकार पारसी हिंदी रंगमंच की एक नयी धारा प्रकट हुई। इन नाटककारों ने पारसी शैली में ही खेले जाने के लिए ऐसे नाटक लिखे जो नवयुग की चेतना के सानुरूप देशानुराग और सांस्कृतिक भावना को व्यक्त करते थे। इन्हें आधुनिक हिंदी नाटक साहित्य का अंग माना जाने लगा है। आगा हश्र के नाटक जैसे ' श्रवण कुमार', ' गंगावतरण', ' भीष्म प्रतिज्ञा', ' दिल की प्यास', ' बिल्वमंगल उर्फ सूरदास', ' रुस्तम सोहराब' आदि, मुंशी नारायण प्रसाद ' बेताब' के नाटक 'महाभारत', 'रामायण', 'कृष्ण-सुदामा', 'समाज', 'शकुन्तला', 'सीता वनवास' आदि, राधेश्याम कथावाचक कृत 'वीर अभिमन्यु', 'श्रवण कुमार', 'परमभक्त प्रहलाद', 'परिवर्तन', 'श्री कृष्ण अवतार', 'रुक्मिणी मंगल', 'सती पार्वती', 'देवर्षि नारद' आदि पारसी थियेटर से जुड़े नाटककारों के कुछ ऐसे नाटक हैं जिन्हें हिंदी नाटक की धारा में मान्यता प्राप्त है। पारसी थियेटर के लिए लिखने वाले नाटककार प्राय: मुंशी कहे जाते थे। किंतु ये नाटक भारतेंदु के

नाट्य-प्रयोग के बाद के नाटक हैं।

नए अनुसंधानों ने तो यह भी साबित किया है कि पूर्व मध्य युग में भी ब्रजभाषा हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में नाटक लिखे और खेले जाते थे। 12वीं शताब्दी में असम के भावना घरों में प्रदर्शित होने वाले 'अंकिया नाट' तथा कालान्तर में रासलीला और रामलीला की परंपरा भारतेंदु के नाट्य लेखन से पहले चली आ रही थी। भारतेंदु ने इनसे, नाट्य-शिल्प और रंगरूढ़ियों के कुछ तत्व लिए भी। परंतु यह परंपरा लोक-नाटक की ही परंपरा थी, साहित्यिक नाटक की नहीं। हिंदी के साहित्यिक नाटक की परंपरा तो भारतेंदु से ही आरंभ होती है।

21.3.2 भारतेंदु युग के नाटक

जैसा कि आप जानते हैं कि परिनिष्ठित साहित्य के रूप में हिंदी नाटक का विधिवत विकास भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने ही किया। नाटक के माध्यम से एक सुरुचिपूर्ण राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का नवोन्मेष करना उनके नाटक-सृजन का लक्ष्य था। मनोरंजन के साथ-साथ दर्शक को शिक्षा देना भी उनका अभीष्ट था। उन्होंने नाट्य-लेखन और अभिनय को मनोविनोद के साथ-साथ समाज-सुधार और युगीन नवजागरण से भी जोड़ा। वे यह मानते थे कि नाट्य प्रदर्शनों के माध्यम से समाज-सुधार का आंदोलन अधिक प्रभावी हो सकता है। सामाजिक या दर्शक को उसके यथार्थ को दिखलाकर अधिकाधिक झकझोरा और अपनी दशा को सुधारने की ओर प्रेरित किया जा सकता है। इसी प्रयोजन से भारतेंदु ने अपने युग के विविध धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि प्रश्नों या समस्याओं को अपने प्रहसनों एवं नाटकों में रूपायित किया और पुनरुत्थानमूलक समाधान प्रस्तुत किया। भारतेंदु मंडल के अन्य नाटककारों ने भी उन्हीं के आदर्शों का अनुसरण किया। वास्तव में भारतेंदु और भारतेंदु मंडल के नाटककारों का लक्ष्य समाज-सुधार एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना को जगाना था।

भारतेंदु और भारतेंदु मंडल के दूसरे नाटककार मूलतः सुधारवादी थे। समाज सुधार की भावना से प्रेरित होकर इन्होंने अपने समाज की वर्तमान दशा का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया। यह तो आपको मालूम ही है कि लेखक का दृष्टिकोण जब यथार्थपरक होता है तो वह अनिवार्यतः अपने समय के समाज को खुली आँख से देखता है। उसके राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक आदि सभी घटकों में व्याप्त बुराइयों, विकृतियों, अंधविश्वासों का यथा तथ्य रूप प्रस्तुत करता है। 'कविवचन सुधा' नामक पत्रिका में भारतेंदु ने अपने समय के समाज का जो लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है, वह उनकी यथार्थ बोध मूलक गहरी अंतर्दृष्टि का ज्ञापक है। किंतु वे सैद्धांतिक यथार्थवादी नहीं थे। समाज की बुराइयों की सही पहचान कराने के रूप में तो वे यथार्थवादी चिंतक हैं लेकिन उनके यथार्थ-चित्रण का प्रयोजन भारतीय चिंतन के सांस्कृतिक-नैतिक मूल्यों को अपनाकर सुधार करने को भी प्रेरित करता है।

सारांश यह है कि भारतेंदु ने पुनर्जागरण की नींव पर राजनीतिक चेतना और सामाजिक पुनरुत्थान का भवन निर्मित किया, जिसके फलस्वरूप भारतीय अपने महान उत्तराधिकार के प्रति सचेत हुए। उनके नाटकों में पुनरुत्थान से प्रेरित सुधार भावना प्रकट है। भारतेंदु युग परतंत्र युग था। उनके समय के नगर, समाज और राष्ट्र में सर्वत्र सभी स्तरों पर रूढ़िग्रस्त पतनोन्मुखी प्रवृत्तियाँ कार्यशील थीं। परतंत्र जाति की संकुचनशील मनोवृत्तियाँ भारतीय जीवन को दुर्बल, शक्तिहीन एवं खोखली बनाती जा रही थीं। उन्हें देखकर दूरदर्शी हरिश्चन्द्र का अनुभूति प्रवण हृदय बारंबार विकल हो उठता था। इसी विकलता ने उन्हें ऐसी नाट्यकृतियों का सर्जन करने के लिए प्रेरित किया जिनमें भारत का जनवर्ग अपनी ह्रासोन्मुखी गतिविधियों की स्पष्ट, साकार मूर्ति देख सके और उनके रहस्य को समझ कर उनके विरुद्ध विद्रोह करने की दृढ़ता और शक्ति प्राप्त कर सके। इसी अर्थ में वे यथार्थ बोध के नाटककार थे। यथार्थ बोध के साथ विषमता की पहचान और उसका अहसास स्वभावतः जुड़ा रहता है। इसी पहचान और अहसास के कारण हम पाते हैं कि उनकी हँसी में भी एक छटपटाहट रहती है। इस छटपटाहट को हम 'अंधेर नगरी', 'भारत दुर्दशा', 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' आदि प्रहसन परक नाटकों में सरलता से देख सकते हैं। उनका व्यंग्य गर्भित हास्य प्रमाता को गहरे प्रभावित करता है। इसमें भारतेंदु की सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना को आधुनिक दृष्टि का सर्वाधिक प्रामाणिक रूप माना जाता है। आइए, देखें कि किस प्रकार अपने युग के सामाजिक नव जागरण को, भारतेंदु तथा उनके मंडल के नाटककारों ने मुखरित किया :

- भारतेंदु युग के नाटक देशभक्ति की चेतना जगाते हैं। नाटकों में सामाजिक नव जागरण की जो

चेतना प्रकट हुई, वह देशभक्ति की भावना से प्रेरित थी। सन् 1857 की असफल क्रांति से जनमानस में जो निराशा एवं शिथिलता व्याप्त हो गई थी, वह भारतेंदु के नाटकों के अभिनय को देखकर नवोत्साह पूर्ण वातावरण में बदलने लगी। हीन भावना से ग्रस्त भारतीयों को अतीत के गौरवपूर्ण आख्यानों का स्मरण कराया गया तथा स्वाधीनता के महत्व को प्रदर्शित किया गया। इसके फलस्वरूप जनता में आत्मविश्वास और स्वाभिमान का भाव जाग उठा।

भारतेंदु की सभी मौलिक रचनाओं यथा 'भारत दुर्दशा', 'भारत-जननी', 'अंधेर नगरी', 'नीलदेवी', 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'पाखंड विडम्बन', वैदिक हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्', प्रेमयोगिनी', 'सती प्रताप' में देश प्रेम प्रबल पक्ष के रूप में प्रकट है। अनूदित नाट्य रचनाओं यथा 'विद्या सुन्दर', 'कर्पूर मंजरी', 'मुद्रा राक्षस', 'दुर्लभ बन्धु' आदि में भी देश प्रेम लक्षित होता है।

- भारतेंदु के नाटकों में देश प्रेम के आधार के रूप में चरित्र बल और अपनी भाषा संस्कृति के प्रचार-प्रसार को विशेष महत्व दिया गया है। इसलिए उनके नाटकों का रुझान आदर्शवादी है। भारतेंदु यह जानते थे कि पराधीनता से मुक्त होने के लिए देशवासियों में चरित्रबल का होना जरूरी है। राष्ट्रीय मुक्ति के विचार-प्रसार के लिए राष्ट्रभाषा का भी उतना ही महत्व है। इसको बहुत साफ रूप में समझाने के लिए नाटकों में उन्होंने कहीं सीधे उपदेश की शैली का प्रयोग किया है, तो कहीं भरत वाक्य में उसे प्रकट करते हैं। अधिकतर हास्य-व्यंग्य की वक्र शैली में वे चरित्र निर्माण की शिक्षा देते हैं। नाटकों के कथानक चरित्र बल की अभिव्यक्ति करते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक लिखकर भारतेंदु ने चरित्रबल के तत्वों की ओर संकेत किया। हरिश्चन्द्र का सत्यप्रिय, न्यायप्रिय, त्यागप्रिय एवं कर्तव्यपरायण चरित्र भारतीय चरित्र के आदर्श का मानदंड है। चरित्र की इसी धुरी पर खड़े होकर पराधीनता के पाश को काटा जा सकता है। इस नाटक का भैरव-राग यही संदेश देता है। सत्य हरिश्चन्द्र के रंगमंच पर आने के व्याज से अंग्रेजीराज को हटाने का संदेश देने के लिए ये पंक्तियाँ रची गई हैं-

  "प्रगटहु रवि-कुल-रवि निसि, बीती प्रजा कमलगन फूले।
  मंद परे रिपुगन तारा सम, जन-मय-तम उनमूले।।'

  नाटक के भरतवाक्य 'स्वत्व निज भारत गहे' में भी स्वतंत्रता की प्रबल उत्कंठा व्यंजित है।

भारतेंदु यह मानते थे कि नारी के चरित्रबल और देश प्रेम का उतना ही महत्व है, जितना पुरुष के चरित्रबल का। इसी मान्यता से प्रेरित होकर उन्होंने 'सती प्रताप' और 'नीलदेवी' जैसे नाटकों की रचना की। 'सती प्रताप' में पातिव्रत्य को नारी का चरित्रबल बतलाया गया है। 'नीलदेवी' नारी की वीरता एवं देशभक्ति से संबंधित नाट्यकृति है। इसमें गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिलाकर भारतीयों को स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए अनुप्रेरित किया गया है -

"रहे हमहँ कबहूँ स्वाधीन आर्य बलधारी।''

"भारत जननी'' में भी राष्ट्रीय जागरण का संदेश दिया गया है। अंग्रेजी शासन में देश की अधोगति दिखाकर देश रक्षा का विचार व्यक्त किया गया है -

"अब बिन जागे काज सरत नहिं आलस्य दूर बहाओ।

हे भारत भुवनाथ भूमि निज बूड़त आनि बचाओ।।''

नाटक में स्वाभिमान की भावना जगाई गई है और देश को प्रगतिशील बनाने के लिए भारतीयों को अनुप्रेरित किया गया है, भारत के पुराने गौरव को पुन: स्थापित करने का जगह-जगह आह्वान मिलता है। 'भारत दुर्दशा' की नाट्य रचना में देशभक्ति की ही अनुप्रेरणा है। इसमें अतीत के गौरव गान से वर्तमान भारत को पुनरुत्थान के लिए प्रेरित किया गया है, साथ ही इसमें देश की वर्तमान अधोगति को दिखाया गया है। नाटककार ने नाटक में अपने समय के भारत की दयनीय दशा का प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत किया है। जनता मँहगाई की मार से दु:खी है, कर वसूलने की कठोरता से भयभीय है। भारतीय को

विदेश भेजने की अंग्रेजों की चाल से बेहाल है। सारा समाज सामाजिक बुराइयों जैसे छुआछूत, आपसी फूट आलस्य, रोग, मदिरा आदि कुप्रवृत्तियों के कारण दुर्दशा को प्राप्त है। इस परिप्रेक्ष्य में वे देशवासियों का ध्यान अपनी गौरवपूर्ण परंपरा की ओर ले जाते हैं और पुनरुत्थान को अनुप्रेरित करते हैं -

"जहँ भए शाक्य हरिश्चन्द्र नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता, कलह, अविद्या-राती।''

इन नाटक में वे देश की गिरी हुई अवस्था और अंग्रेजों की शोषक नीतियों का चित्रण कर एवं देश की अतीत कालीन उन्नत दशा और वीरता की याद दिलाकर दर्शक में देशप्रेम की संवेदना जगाकर स्वाध ीनता-संघर्ष के लिए अनुप्रेरित करते हैं।

'अंधेर नगरी' में भी भारतेंदु ने व्यंग्योपहास की शैली में नाट्य रचना कर देश के भीतर के सूदखोर महाजन जैसे देश के दुश्मनों और अंग्रेजी शासन के जन विरोधी राजप्रबंध, शोषण एवं टैक्स की नीति पर कटु व्यंग्य किया है। नाटक का व्यंग्योपहास समाज की आँख खोलने के लिए है, देश-बचाने के लिए जनता को सजग करने के लिए है।

"विषस्य विषमौधम्' नाटक में देश के रजवाड़ों की कुचक्रपूर्ण परिस्थिति दिखलाकर देश को दुर्बल करने वाले तत्वों के प्रति सावधान किया गया है। इसी प्रकार 'प्रेम योगिनी' नाटक में भारतेंदु ने धार्मिक और सामाजिक गिरावट का व्यंग्यात्मक चित्रण किया है। 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' में लोलुप स्वार्थी और अवसरवादी लोगों पर व्यंग्य किया गया है। देश को खोखला करने वाले तत्वों का व्यंग्य और उपहास की शैली में चित्रण कर भारतेन्दु राष्ट्रप्रेम की शिक्षा देते हैं, पुनरुत्थान की ओर अनुप्रेरित करते हैं।

भारतेंदु के नाटक रंगशिल्प की दृष्टि से बहुत सरल और स्वाभाविक हैं। वे नाटककार ही नहीं निर्देशक और अभिनेता भी थे। उन्होंने थोड़े से रंगमंचीय उपकरणों (सामग्रियों) की सहायता से मेले-ठेले में या कहीं भी खुली या बंद जगह में प्रदर्शित कर जनता को रंजित और शिक्षित करने के लिए ही नाटक की रचना की थी। अतः रंगमंचीय प्रदर्शन की दृष्टि से वे बहुत प्रभावशाली नाटक ज्ञात होते हैं। बहुत कुछ लोक-नाट्य शैली को अपनाने के कारण भी उनके मंचन में कोई कठिनाई नहीं होती। हिंदी नाट्यकला के प्रवर्तक के रूप में भारतेंदु ने जो नेतृत्व किया उसकी छाया में नाटककारों का एक मंडल साहित्य क्षेत्र में अवतरित हुआ। अनेक तो भारतेंदु के संपर्क से उत्साहित होकर ही नाटककार बने।

भारतेंदु मंडल के दूसरे नाटककारों ने भारतेंदु की नाट्य शैली का अनुसरण कर नाटक लिखे और हिंदी नाटक साहित्य को समृद्ध किया। भारतेंदु युग के कुछ उल्लेखनीय नाटक हैं - देवकीनन्दन खत्री कृत 'सीताहरण (1876), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का 'रामचरितावली' श्रीनिवास दास के 'प्रह्लाद चरित्र', 'रणधीर प्रेममोहिनी', 'बालकृष्ण भट्ट के 'नलदमयंती स्वयंवर', 'नया रोशनी का विष', राधाचरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर', राधाकृष्ण दास का 'दुखिनी बाला' आदि।

21.3.3 द्विवेदी युग : नाटक सृजन की दृष्टि से ह्रास काल

मौलिक नाटकों के सृजन में द्विवेदी युग का योगदान नहीं के बराबर ही था। इस युग के नाट्य लेखन में कोई नयी सर्जनशीलता प्रकट नहीं हुई। वस्तुतः भारतेंदु मंडल के नाट्य प्रयत्नों के बाद काफी समय तक नाटकीय गतिविधि क्षीण दिखाई पड़ती है। भारतेंदु काल में जो कतिपय अव्यावसयिक नाट्य मंडलियाँ स्थापित हुईं थीं, वे शीघ्र ही काल कवलित हो गईं। द्विवेदी युग के प्रसिद्ध रंगकर्मी एवं प्रखर अभिनेता माधव शुक्ल ने अव्यावसायिक रंगमंच को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। सन् 1908 में उन्होंने प्रयाग की 'रामलीला नाटक मंडली' का पुनरुद्धार किया और सुरुचि संपन्न पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना का संस्कार करने वाले नाटकों का अपने अव्यावसायिक रंगमंच पर अभिनय प्रस्तुत

किया। इस नाट्य मंडली के तत्वावधान में राधाकृष्णदास कृत 'राणाप्रताप' और माधव शुक्ल के नाटक 'महाभारत' का अभिनय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस मंडली से प्रोत्साहित होकर कतिपय रंगनाटक लिखे गए। माखनलाल चतुर्वेदी का नाटक 'कृष्णार्जुन युद्ध' (सन् 1918 ई.) बदरीनाथ भट्ट कृत 'दुर्गावती' 'कुरुवनदहन' और 'वेनचरित' बलदेव प्रसाद मिश्र का 'प्रभास मिलन' इस युग के अन्य सुंदर रंगनाटक कहे जा सकते हैं। समग्रतः इस युग में भारतेंदु से आगे बढ़कर शिल्प और संवेदना के स्तर पर कोई नया प्रयोग घटित नहीं हुआ। भारतेंदु ने हिंदी रंगमंच की स्थापना का जो कार्य आरंभ किया, वह भी आगे न बढ़ सका। परिणामस्वरूप जनता व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों में अधिक रुचि लेने लगी।

द्विवेदी युग में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, रोमांचकारी आदि विभिन्न विषयों पर नाटक लिखे गए। कुछ प्रहसन भी लिखे गये। ये सभी नाटक राष्ट्रीय चेतना और समाजसुधार की भावना से लिखे गये। पौराणिक नाटकों में पौराणिक आख्यानों और चरित्रों के माध्यम से उपदेश देने की प्रवृत्ति ही झलकती है। नाट्य कला का विकास इनमें नहीं मिलता और अभिनय तत्व भी नहीं के बराबर है। इस युग के कुछ नाटक हैं - बनवारी लाल का "कंसवध" (1909), नारायण सहाय का "रामलीला" (1911), लक्ष्मीप्रसाद का "उर्वशी" (1910), जयशंकर प्रसाद का "करुणालय" (1912) "राज्यश्री" (1915), बद्रीनाथ भट्ट का "कुरुवन दहन" (1915), "चंद्रगुप्त" (1915) वृंदावनलाल का "सेनापति ऊदल" (1909), प्रतापनारायण मिश्र का "भारत दुर्दशा", भगवती प्रसाद का "वृद्ध विवाह"(1905), मिश्रबंधु का "नेत्रोन्मीलन" (1915) आदि।

द्विवेदी युग में पारसी रंगमंच को दृष्टि में रखकर रोमांचकारी नाटक भी लिखे गये। इनकी विषयवस्तु फारसी प्रेमाख्यानों और पौराणिक आख्यानों पर आधारित है। ये नाटक "कोरस" से आरंभ होते थे और प्रमुख कथा के समानान्तर एक "प्रहसन" भी चलता था जो दर्शकों को हंसाने या फिर मूल नाटक की भावधारा में परिवर्तन करने के लिये प्रयुक्त होता था। इन नाटकों की भाषा पहले उर्दू-फारसी मिश्रित हुआ करती थी। बाद में साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया जाने लगा। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियां "रौनक", सैयद मेंहदी हसन "अहसान", नारायण प्रसाद 'बेताब", आगा मोहम्मद "हश्र" और राधेश्याम कथावाचक प्रमुख हैं।

इस युग में मौलिक नाटक तो बहुत नहीं लिखे गए, किंतु अँग्रेजी और बंगला नाटकों का अनुवाद पर्याप्त मात्रा में हुआ। इन अनुवादों से आगे के नाटककारों को नाट्य सृजन के लिए नयी उर्वर भूमियाँ मिली।

21.3.4 प्रसाद युग : रंग-निरपेक्ष साहित्यिक नाटक रचना का युग

प्रसाद के आविर्भाव के साथ हिंदी नाट्य साहित्य के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ता है। प्रसाद सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। उन्होंने काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि सभी साहित्यिक विधाओं को छायावादी कल्पना एवं भावना के साथ विकसित किया। सभी नाट्य समीक्षक एक स्वर से यह मानते हैं कि प्रसाद ने हिंदी नाट्य सृजन को एक नयी शैली दी, नूतन प्राण-प्रतिष्ठा की और सांस्कृतिक-राष्ट्रीय संचेतना की भावोच्छ्वासपूर्ण अभिव्यक्ति की। उन्होंने भारतीय नाट्य विधान के इस तत्व एवं पाश्चात्य नाट्य विधान के अंतर्द्वंद्व का सुंदर समन्वय कर एक नूतन नाट्य शिल्प का विकास किया। इस समन्वय के फलस्वरूप उनके नाटकों में पात्रों का चरित्र एवं कार्य व्यापक अधिक व्यापक भूमियों में विकसित हुआ है और मानवीय संवेदना के अनेकानेक रूप प्रकाशित किए गए हैं। प्रत्येक पात्र को प्रसाद ने एक निजी व्यक्तित्व प्रदान किया है। पात्रों की भीड़ में हर पात्र की अपनी अलग पहचान प्रकट होती है। चरित्र विकास की मौलिकता ही प्रसाद के नाटकों की अन्यतम विशेषता है। पात्रों के अंतर्द्वंद्व में पात्रों की वैयक्तिकता प्रकट हुई है। ये पात्र भारतीय नाटकों की चरित्र मूलक रीति-नीति से अलग व्यक्ति वैचित्र्यमूलक लगते हैं। किंतु भारतीय आदर्शवादी आस्था उनके चरित्र में व्यक्ति वैचित्र्य को एक सीमा से आगे भी जाने नहीं देती। इस प्रकार पात्र न तो केवल परंपरासिद्ध नायक हैं, न ही पूर्णतः व्यक्ति वैचित्र्यमूलक ही लगते हैं। उनमें दोनों रूपों का स्वस्थ एवं सर्जनात्मक समन्वय घटित हुआ है।

रंगमंच के आभाव में प्रसाद का नाट्य सृजन

पारसी रंगमंच को हिंदी के शिष्ट समाज में मान्यता मिली नहीं, अव्यावसायिक रंगमंच भी प्रसाद के युग तक आते-आते समाप्त प्राय हो गया था। अत: प्रसाद के समय में हिंदी का अपना कोई रंगमंच सुलभ नहीं था, जो नाट्य सृजन को कोई निश्चित दिशा प्रदान करता। रंगमंच के अभाव में प्रसाद ने रंगनाटक न लिखकर काव्योपम औपन्यासिक नाटकों का सृजन किया। अभिनयात्मक सृजन शैली का सहारा कम लिया। वर्णनात्मक और भावुकतागर्भित बिम्बात्मक संवाद शैली में ही उन्होंने नाट्य वस्तु का प्रकाशन किया। इसीलिए उनकी नाट्य शैली काव्योपम एवं औपन्यासिक प्रतीत होती है। इस अभिव्यंजना शैली को स्वच्छंदतावादी आदर्शोन्मुख काव्योपम नाट्य शैली कहा जा सकता है। प्रसाद की कल्पनाशील रोमांटिक-धर्मी प्रकृति ने प्रस्तुत नाट्यशैली को बहुत आकर्षक रूप प्रदान किया। इस प्रकार की नाट्य शैली में उन्होंने अनेक कालजयी नाटकों की रचना की है -'राज्यश्री' (सन् 1915 ई.) 'जनमेजय का नागयज्ञ (सन् 1926 ई.) 'विशाखा' (सन् 1921 ई.), 'अजातशत्रु' (सन् 1922 ई.), 'कामना' (सन् 1923-24ई.) 'स्कन्दगुप्त' (सन् 1928 ई.), 'एक घूंट' (सन् 1930 ई.), 'चन्द्रगुप्त' (सन् 1931 ई.), 'ध्रुवस्वामिनी' (सन् 1939 ई.) आदि इन नाटकों के अतिरिक्त प्रारंभ में प्रसाद ने चार एकांकियों की भी रचना की थी, यथा 'सज्जन'' (सन् 1910-11 ई.),'कल्याणी परिणय' (सन् 1912 ई.), 'करुणालय' (सन् 1921 ई.) और 'प्रायश्चित' (सन् 1914 ई.)। इन एकांकियों में प्रसाद की सर्जनात्मक चेतना की वह झलक दिखाई देती है, जो 'स्कंदगुप्त' आदि नाटकों में आगे अधिक उभरकर सामने आई।

प्रसाद ने रोमांटिक धर्मी ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटकों का सृजन कर हिंदी नाटक का नया विकास किया। नाटकों के ऐतिहासिक कथानक के लिए उन्होंने भारत के सुदूर अतीत के संधिकालिक इतिहास को ही चुना। इसका एक कारण था। वे अपने नाटकों के माध्यम से स्वतंत्रता-संघर्षरत अपने समाज तथा व्यक्ति के जीवन को उसके अंतर्बाह्य सभी रूपों में स्पन्दित करना चाहते थे एवं मूल्यवत्ता का दिग्दर्शन करना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे नाट्य वस्तु को अपनी कल्पना से ऐसे नए-नए घुमाव देते थे, जिससे मानवीय संबंधों की अनेकानेक संवेदनाएँ प्रकट होती हैं। जिन जीवन प्रसंगों के प्रति इतिहास मौन रहता है, उन्हें वे अपनी कल्पना से रूप देते थे। इस प्रयत्न में उनके नाटकों के कथानक जटिल तो हो गए हैं, किंतु कथानक को रचते समय इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय करके वे जीवन के बहु-आयामी चित्र व्यक्त करते हैं। इससे पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी व्यक्तिवैचित्र्य की नयी विशेषता अनायास ही उभर आती है। प्रसाद के इस कथानक, रचना शिल्प और चरित्र विधान से आगे के नाटककार बहुत प्रभावित हुए और उनकी नाट्य शैली के अनुकरण पर ही नाटक लिखने में प्रवृत्त हुए। इसी अर्थ में प्रसाद युग के नाटकों की अपनी नयी पहचान बनती है।

प्रसाद की नाट्य शैली से प्रेरणा ग्रहण करते हुए अथवा उसके विरोध में, उनके काल में ही, हिंदी नाटक का बहुमुखी विकास हुआ। हरिकृष्ण 'प्रेमी', वृन्दावन लाल वर्मा, डॉ. राम कुमार वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, गोविन्द वल्लभ पंत, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, लक्ष्मी नारायण मिश्र, चतुरसेन शास्त्री, पांडेय लोचन प्रसाद शर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, इन्द्रदेव वेदालंकार जोशी, भवानीदत्त, रामवृक्ष बेनीपुरी, लाला किशनचन्द जेबा आदि बहुत से नाटककार प्रसाद के समय में ही या तो उनकी नाट्य शैली का अनुकरण करते हुए अथवा उनकी काव्यगरिमायुक्त आदर्शोन्मुख रोमांटिक धर्मी नाट्य शैली का विरोध करते हुए, युग की सामाजिक समस्याओं पर आधारित सामाजिक कथानक प्रधान यथार्थवादी ढर्रे के नाटक या समस्या-नाटक लिखने की ओर अग्रसर हुए।

यथार्थवादी एवं समस्या नाटक का विकास

प्रसाद के समय में ही सन् 1929-30 ई. तक आते-आते हिंदी में सामाजिक जीवन के यथार्थ को लक्ष्यकर इब्सन के ढर्रे के सामाजिक नाटक या समस्या नाटक की शैली का अनुकरण करते हुए यथार्थमूलक अथवा समस्यामूलक नाटक लिखने की ओर भी हिंदी के बहुत से नाटककार प्रवृत्त हुए। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की भावापन्न रोमांटिक धर्मी शैली के विरोध में, सामाजिक कथानक पर आधारित, समाज की तात्कालिक समस्याओं को रूपायित करने वाले समस्या नाटक लिखे जाने लगे। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने अपने समस्या नाटक 'मुक्ति का रहस्य' की लम्बी भूमिका में सामाजिक नाट्य अथवा समस्या नाटक के शिल्प और संवेदना का स्वरूप विस्तार से उद्घाटित किया। यथार्थ-मूलक समस्या नाटकों का लक्ष्य समसामयिक प्रश्नों की यथातथ्य अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में नाटककार की बौद्धिक सोच की

ईमानदारी को बहुत अहमियत दी जाती है। सामाजिक समस्याओं पर पात्र तर्क-वितर्क करते हैं। यह तर्क-वितर्क प्राय: परंपरागत रूढ़िवादी मूल्य-व्यवस्था का समर्थन करने वाली पुरानी पीढ़ी और उन मूल्यों का विरोध करने वाली बुद्धिवादी नयी पीढ़ी की टकराहट और उस टकराहट से उत्पन्न पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की तनावपूर्ण अवस्थाओं का यथातथ्य रूप प्रकट करता है। यथार्थवादी रंग अपनाने के कारण इन नाटकों का मूल स्वर सामाजिक कुरीतियों की प्रस्तुति है। इस प्रस्तुति में परंपरा का तिरस्कार मिलता है।

सन् 1912 से 1929 के बीच कतिपय ऐसे प्रहसन एवं व्यंग्य मूलक सामाजिक नाटक लिखे गए, जिनमें यथार्थ परक जीवन-चित्रण का आभास तो मिलता है, किंतु उनमें रूढ़ि-भंजक वह बौद्धिकता नहीं है, जो आगे के यथार्थ-मूलक समस्या नाटकों में प्रकट हुई। जी.पी. श्रीवास्तव, बद्रीनाथ भट्ट, श्री बेचन शर्मा 'उग्र' आदि इस काल के कुछ ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने अपने प्रहसनों एवं व्यंग्य प्रधान सामाजिक नाटकों में तत्कालीन समाज की सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक-धार्मिक बुराइयों को सामने लाने का प्रयास किया। परंतु वे सुधार की भावना से प्रेरित थे, उनमें रूढ़ि-भंजक विद्रोह का स्वर प्रमुख नहीं था। यद्यपि मिश्र बंधुओं द्वारा रचित 'नेत्रोन्मीलन' (सन् 1915 ई.), प्रेमचन्द कृत 'संग्राम' (सन् 1922 ई.), राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'गुलामी का नशा' (सन् 1922 ई.) आदि प्रहसनों में अधिक विकसित यथार्थवादी दृष्टि का परिचय मिलता है, तथापि उनकी वस्तु निरूपण शैली प्रहसनात्मक ही है। हास्य रस ही उनकी रचना का केंद्रीय लक्ष्य है, वैचारिकता को केंद्र बनाकर विषय का नाटकत्व उन्मीलित नहीं किया गया है।

21.3.5 प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य

यथार्थवादी नाट्य शैली एवं रंग-शिल्प को अपनाकर **यथार्थवादी नाटक या समस्या नाटक** लिखने का प्रसादोत्तर कालीन दौर कृपानाथ मिश्र कृत 'मणि गोस्वामी' (सन् 1929 ई.) लक्ष्मी नारायण मिश्र कृत 'संन्यासी' (सन् 1929 ई.) से ही प्रारंभ होता है। 1930 ई. के अनन्तर हिंदी में यथार्थपरक समस्या नाटकों के सृजन की धारा अनवरत रूप में प्रवाहित हो चली। सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, गोविन्द वल्लभ पंत, पृथ्वीनाथ वर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवती चरण वर्मा, रमेश मेहता, विमला रैना, विनोद रस्तोगी, विष्णु प्रभाकर, इन्द्रसेन सिंह, मोहन लाल महतो वियोगी, रेवती शरण शर्मा, अरिगपूडि, मैरूलाल व्यास, मन्नू भंडारी आदि ने सामाजिक राजनीतिक समस्याओं का यथार्थ चित्रण करते हुए अनेक नाटक लिखे। इनमें नाटकों की नाट्याभिव्यक्ति की रीति यद्यपि यथार्थपरक थी, किंतु यथार्थवादी रंगमंचीय प्रदर्शन का हिंदी में प्रचलन न होने के कारण, उनका नाट्य लेखन रंग-शिल्प की दृष्टि से अधिक प्रभविष्णु नहीं बना।

प्रसादोत्तर काल की एक प्रवृत्ति प्रसाद के नाट्यादर्श का अनुगमन करने की ही थी। प्रसाद की परंपरा में अद्यतन काल तक ऐतिहासिक नाटकों, पौराणिक नाटकों, गीति-नाट्यों, प्रतीक नाटकों के सृजन का अनवरत प्रवाह बना रहा है। ऐतिहासिक नाटकों में **उदयशंकर भट्ट** कृत 'विक्रमादित्य' (सन् 1933 ई.), 'दाहर' या 'सिंध पतन' (सन् 1934 ई.), 'मुक्ति पथ' (सन् 1944 ई.), 'शक विजय' (सन् 1949 ई.), **हरिकृष्ण प्रेमी** के नाटक 'शिव साधना' (सन् 1937 ई.), 'प्रतिशोध' (सन् 1937 ई.), 'स्वप्नभंग' (सन् 1940 ई.), 'आहुति' (सन् 1940 ई.), 'उद्धार' (सन् 1949 ई.), 'प्रकाश स्तम्भ' (सन् 1954 ई.), 'कीर्तिस्तम्भ' (सन्1955 ई.), 'साँपों की सृष्टि' (सन् 1959 ई.), 'रक्तदान' (सन् 1962 ई.), **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** कृत 'अशोक' (सन् 1935 ई.), **सेठ गोविन्ददास** कृत 'हर्ष' (सन् 1935 ई.), 'शशिगुप्त' (सन् 1942 ई.), **लक्ष्मीनारायण मिश्र** कृत 'अशोक' (सन् 1926 ई.), 'गरुणध्वज' (सन् 1945 ई.), 'वत्सराज' (सन् 1950 ई.), 'दशाश्वमेध' (सन् 1957 ई.), 'वितस्ता की लहरें' (सन् 1953 ई.) **वृन्दावन लाल वर्मा** कृत 'झांसी की रानी' (सन् 1948 ई.) 'पूर्व की ओर' (सन् 1950 ई.), 'काश्मीर का काँटा' (सन् 1948 ई.), **जगदीश चन्द्र माथुर** कृत 'कोणार्क' (सन् 1946 ई.), 'शारदीया', पहला राजा' (सन् 1969 ई.), **देवराज दिनेश** कृत 'मानव प्रताप' (सन् 1952 ई.), **रामवृक्ष बेनीपुरी** कृत 'अम्बपाली', **दशरथ ओझा** कृत 'प्रियदर्शी सम्राट अशोक', 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य', **मोहन राकेश** कृत 'आषाढ़ का एक दिन' (सन् 1956 ई.),'लहरों के राजहंस'. (सन् 1963 ई.) आदि प्रसाद की काव्यधर्मी रोमांटिक नाट्य शैली से प्रभावित प्रमुख नाटक हैं।

21.4 नया नाटक

प्रसाद की काव्योपम नाट्य शैली का अनुकरण करते हुए ही कुछ नाटककारों ने जैसे जगदीशचन्द्र माथुर और मोहन राकेश आदि ने रंग-शिल्प के नए प्रयोग द्वारा एवं संवेदना की नयी भूमियों को उद्घाटित करते हुए **ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाट्य लेखन** में नया रंग भरा जिससे 'नया नाटक' लिखने की एक नई शुरुआत संभव बनी। इनके नाट्य लेखन में नाटक के आलेख और रंगमंच के बीच घनिष्ठ रिश्ता स्थापित करने की नाट्य कला का नया विकास मिलता है। संवेदना का स्वर भी आधुनिक बोध के नए स्वरूप को रेखांकित करता है। इस प्रकार इनके ऐतिहासिक-पौराणिक नाट्य लेखन में प्रसाद शैली से भिन्नता दिखलाई पड़ने के कारण इनको हिंदी में **नया नाटक** या **गंभीर रंग नाटक** लिखने की शुरुआत करने वाला नाटककार समझा जाने लगा। क्रमशः इस ढर्रे के शिल्प और संवेदना से युक्त नाटक लिखने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी और हिंदी में 'नया नाटक' का दौर चल पड़ा। जगदीश चन्द्र माथुर के नाटक 'कोणार्क' तथा मोहन राकेश के नाटकों 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' में ऐतिहासिक कथानक का आधार होते हुए भी शिल्प और संवेदना का एक परिवर्तित आधुनिक रूप परिलक्षित हुआ। इनमें समाज एवं व्यक्ति के जीवन की आंतरिकता के गहरे और जटिल यथार्थ का नाटकत्व प्रकट हुआ। इसमें मनोवैज्ञानिक गहराई के साथ जीवन के यथार्थ को रूपायित करने की प्रवृत्ति बढ़ी। नाट्य-भाषा और अभिनय का अभिन्न रिश्ता कायम किया गया। हिंदी में रंगनाटक लेखन की एक नयी शुरुआत हुई। साठोत्तर काल में रंगनाटक लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी तथा प्रकृतिवादी यथार्थ या आंतरिक मनोवैज्ञानिक यथार्थ के केंद्र से मानवीय रिश्तों और उन रिश्तों की संवेदनात्मक स्थितियों को प्रकाशित किया गया। इस प्रकार विगत यथार्थवादी नाटककारों के स्पष्ट बाह्य यथार्थ से कुछ अलग हटकर व्यक्ति के आभ्यान्तर यथार्थ का चित्रण करना 'नया नाटक' की एक विशिष्ट प्रवृत्ति बनकर प्रकट हुई।

21.4.1 विगत नाट्य परंपराओं से भिन्न संवेदना और शिल्प का नाटक

नया नाटक आजादी के बाद सपनों के क्रमशः टूटने से उत्पन्न विवशता और निराशा की संवेदना का नाटक है। यह उल्लेखनीय है कि सन् 1954-55 के बाद सामान्य शिक्षित जनमानस आंतरिक विघटन एवं घुटन का अनुभव करने लगा। मानव-मन में पलने वाली आशाएँ टूटीं, मोह भंग की स्थिति पैदा हुई। नयी पीढ़ी में कुंठा, वर्जना, घुटन, संत्रास, निराशाएँ एवं आशंका ने जन्म लिया। उसके पूर्व देश के विभाजन और गाँधी जी की हत्या के बावजूद नेहरू जी की समाजवाद मूलक चिंता, प्रथम पंचवर्षीय योजना की आंशिक सफलता आदि के कारण सामान्य शिक्षित व्यक्ति अपने को उस रूप में दिशाहीन नहीं समझता था, जिस रूप में युद्धोपरांत पश्चिम का सामान्य शिक्षित जन समझने लगा था। परंतु साठोत्तर काल तक आते-आते हमारे यहाँ भी आधुनिक मनुष्य का आंतरिक संकट रचनाकारों का ध्यान आकृष्ट करने लगा। इसी आंतरिक संकट को मूर्त रूप में प्रकट करने के प्रयास में हिन्दी में **नया नाटक** का विकास हुआ। आंतरिकता के जटिल संसार को रंगमंचीय प्रतिबद्धता के साथ रूपायित करने के कारण हिंदी का नया नाटक, गंभीर सर्जनात्मक नाट्य सर्जन का आभास देने लगा।

21.4.2 आंतरिक यथार्थ की रंग सापेक्ष गंभीर अभिव्यक्ति

संबंधों के आंतरिक यथार्थ की खोज में 'नया नाटक' की सृजनशीलता का नया रूप प्रकट हुआ। नया नाटककार बाह्य यथार्थ की जगह आंतरिक यथार्थ को नाटक में रूपायित करने की चेष्टा करने लगा। वह व्यक्ति के गहरे अंतर्द्वंद्व, उलझाव एवं भटकाव के माध्यम से वर्तमान जीवन की यथार्थ दशाओं को व्यंजित करने में प्रवृत्त हुआ। शैली शिल्प के स्तर पर नए नाटककार की प्रवृत्ति प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण की ओर है। पुराने यथार्थवादी नाटककारों की यथातथ्यपरक सपाट प्रस्तुतीकरण की शैली को 'नया नाटक' के लेखक ने त्याग दिया। उसने प्रस्तुतीकरण की प्रतीकात्मक शैली को अपनाकर नाट्य वस्तु को अधिक व्यंजक और काव्यात्मक स्वरूप प्रदान किया। प्रतीकात्मक शैली को महत्त्व देने के कारण ही नया नाटककार आधुनिकता व्यंजक संवेदना को व्यक्त करने के लिए मिथकीय या पौराणिक प्रसंगों को नयी तार्किकता के साथ प्रस्तुत करने लगा। नयी तार्किकता का लक्ष्य पौराणिक-मिथकों के प्रचलित आस्था विश्वासों में अनास्था पैदा करना ही रहा है। नए नाटककार के लिए इससे आधुनिकता की अनास्थापरक

संवेदनीयता का गहरा अहसास कराना सुलभ हो जाता है। आजादी के सपनों का मिथ टूटने की भूमिका में पौराणिक मिथकीय नारियों की अनास्था व्यंजक व्याख्या दिशाहीनता के बोध को गहरा कर देती है।

हिंदी का नया नाटककार पश्चिम के नए नाट्य प्रयोगों जैसे ब्रेख्ट के महाकाव्यात्मक रंगमंच, बेकेट के 'एब्सर्ड' (विसंगत) नाट्य लेखन की शैली, अस्तित्ववादी चेतना के नाटक की संवेदना और शिल्प से बहुत प्रभावित हुआ है। प्रभाव ग्रहण इतना अनुकरण मूलक हो गया है कि उसमें अपनी मूलभूमि की समकालीनता को समझने का कोई प्रयास ही नहीं मिलता। भारतीय यथार्थ के संदर्भ में नाटक बहुत अजनबी लगने लगते हैं। नया नाटककार अपने नाट्य सृजन में अपनी जमीन की संस्कृति से वह संबंध स्थापित करने में असमर्थ ही रहा, जो नाट्य सृष्टि का अभीष्ट होता है। पाश्चात्य रंग प्रयोगों के अनुकरण के फलस्वरूप शैली शिल्प के स्तर पर हिंदी नाटक में अभूतपूर्व नए प्रयोग किए जाने लगे। प्रस्तुतीकरण के स्तर पर हिंदी नाटक बहुत समृद्ध हुआ।

साठोत्तर काल में हिंदी के नये नाटककार और रंग निर्देशक समकालीन पश्चिमी रंग प्रयोग विज्ञान से बहुत कुछ सीखकर उसे हिंदी नाट्य सृजन और प्रस्तुतियों में अधिकाधिक अपनाने लगे। नए नाटककारों और रंग निर्देशकों ने बर्तोल ब्रेख्ट के आक्रोश गर्भित रंगमंच (Angry theatre) एवं महाकाव्यात्मक रंग-प्रयोग (Epic theatre) आयनेस्को तथा बेकेट के विसंगत रंग-प्रयोग (Abdsurd theatre) से अत्यधिक प्रभावित होकर नया नाटक के शिल्प और संवेदना को परंपरागत नाट्याभिव्यक्ति से पृथक करके प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। समकालीन नागरिक और साहित्यकार जिस तरह का अंतर्द्वंद्व महसूस कर रहा था, उसकी अभिव्यक्ति में पश्चिम की उक्त रंग-शैलियाँ बड़ी सहायक सिद्ध हुईं। इस अंतर्द्वंद्व के मूल में एक ओर तो सामाजिक समस्याओं का खिंचाव है, तो दूसरी ओर दिशाहीन अवचेतन मानस का दबाव है। इसे नाट्यबद्ध करने के लिए नाटककार को पश्चिम के अस्तित्वादी दर्शन से भी प्रेरणा मिली।

पश्चिम में युद्धोपरांत मनुष्य की मानसिकता ऐसी बनी जिसमें आध्यात्मिक चिंतनों और व्यवस्था के नाम पर रचे गए सामाजिक संस्थानों की नीतियाँ और आदर्श सभी से संबंधित मानव मूल्यों की निरर्थकता का गहरा अहसास होने लगा। सामाजिक स्तर और व्यक्तिगत दोनों ही स्तरों पर जीवन की विसंगतियाँ डरावनी और दुखद लगने लगीं। मानवीय विघटन की दुःखद स्थितियाँ आंतरिक उलझाव के संत्रास के सामाजिक या बाहरी चेहरे को प्रकट करने में तत्पर हुईं। आक्रोश व्यंजक ब्रेख्ट की रंग चेतना संत्रास के सामाजिक या बाहरी चेहरे को प्रकट करने में तत्व समाज में न्याय से वंचित मामूली आदमी का संत्रास रूपायित करने में लगीं। इसके समानांतर अस्तित्ववादी नाटककार या विसंगत नाटककार व्यक्ति विशेष के आंतरिक संत्रास और उलझाव को नाट्यबद्ध करने की ओर अग्रसर हुआ। ब्रेख्ट की धारणा के अस्तित्वखोजी मानव की झलक सर्वप्रथम जगदीश चन्द्र माथुर के 'कोणार्क' (1946) नाटक में देखने को मिलती है। 'कोणार्क' में नायक-नायिका की पारंपरिक स्वीकृति नहीं है। नायिका है ही नहीं और नायक सर्वहारा वर्ग का एक सामान्य श्रमिक है। इसे भी नायक कहने में एक बाधा यह है कि वह फल का भोक्ता नहीं है। किंतु विशु के चरित्र में मामूली आदमी के न्याय वंचित सामाजिक अस्तित्व के प्रति गहरी चिंता मिलती है।

नया नाट्य साहित्य अस्तित्ववादी दर्शन की वैचारिक पृष्ठभूमि में रचा गया। हिंदी के नये रचनाकारों ने (नयी कहानी, नया नाटक, नयी कविता आदि) पश्चिम के अस्तित्ववादी दर्शन से विशेष प्रेरणा ग्रहण की है। अतएव नया नाटक के रचनात्मक मर्म को समझने में अस्तित्ववादी दार्शनिक चिंतन की दो कोटियाँ रही हैं।

1) धर्ममूलक अस्तित्ववाद (Religious existendialoism)

2) अनीश्वर मूलक अस्तित्ववाद

किर्केगाद, धर्ममूलक अस्तित्ववाद के प्रवर्तक थे तो सार्त्र, अनीश्वर मूलक अस्तित्ववादी विचारक थे। किर्केगाद के अस्तित्ववाद का संक्षिप्त रूप यह है कि मनुष्य के जीवन में आज व्यर्थता-बोध समा गया है। इस व्यर्थता-बोध के मूल में आतंक भरा मनस्ताप (Anxiety) है। इस आतंक के मूल में नैराश्य है और इस नैराश्य के मूल में धार्मिक विश्वास का बीज अंतर्निहित है। सार्त्र ने किर्केगाद के अस्तित्ववादी सूत्र के

केवल अंतिम शब्द को बदल दिया है। उसने धार्मिक विश्वास (Religious faith) के स्थान पर व्यक्ति स्वातंत्र्य को रख दिया है। उसने यह माना है कि चुनाव करने की स्वतंत्रता मनुष्य जाति की एक दुखद नियति है। स्वतंत्रता मानव प्रकृति का सहज रूप है। चुनने में स्वतंत्र होना उसकी जीवोचित प्रकृति भी है और आंतरिक संकट को जन्म देने वाली नियति भी है। उसकी इस स्वतंत्र इच्छा शक्ति पर तकनीकी उपकरणों तथा निरर्थक सिद्ध हो गए प्रचलित सभी आदर्शवादी दर्शनों के अयाचित दबाव ने अस्तित्व का संकट पैदा कर दिया है। नये नाटक के अस्तित्व खोजी चरित्र इसी आंतरिक संकट को मूर्त रूप में सामने लाते हैं।

चाहे किर्केगाद के धार्मिक विश्वास के कारण हो, चाहे सार्त्र के मानव-प्रकृति के स्वातंत्र्य के कारण हो, अस्तित्ववादी दर्शन का चिंत्य विषय आज के जीवन में व्यक्ति की अस्मिता का संकट है। अस्तित्ववादी समान रूप से यह मानते हैं कि मानव जीवन के विकास का ढोंग करने वाले सारे आधारों-विज्ञान, तकनीकी विकास, ईश्वर, धर्म और नीति के प्रचलित प्रतिमान, समाज विकास की आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्थाएँ आदि से आज के व्यक्ति का विश्वास जैसे पूरी तरह उठ गया है। वह अपने को एक शून्य में निराधार अनुभव करने लगा है। कटुता और नैराश्य से भरकर, परंपरा से प्राप्त सब प्रकार के आधारों से निरपेक्ष होकर वह एक प्रयोगधर्मी रूप से अस्मिता को खोजना चाहता है। चरित्रों के आचरण का धर्मी प्रयोग रूप किसी भी प्रचलित आदर्श से संचालित न होने के कारण विसंगति-व्यंजक होता है या दिशाहीन सा ज्ञात होता है। इस प्रकार, अस्तित्ववादी दर्शन से प्रेरणा लेकर जो नाट्य सृजन हुआ उसे विसंगत नाटक एब्सर्ड (नाटक) की संज्ञा दी गई। हिंदी का नया नाटक भी इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में रचा जाने लगा। आठवें दशक में इस प्रवृत्ति की ओर झुकाव अधिक हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पश्चिमी जीवन का जो यथार्थ उभर कर सामने आया, उसे अस्तित्ववादी दर्शन के प्रकाश में समझने का प्रयास रचनाकार करने लगे। विश्वयुद्ध के बाद का जो यथार्थ उभरा उसमें नये रचनाकारों को ऐसा लगा कि जैसे न ही कहीं कोई कथानक है, न कथापुरुष या नायक है, न व्यवस्था है, न कोई निचिश्त मूल्य ही है, न ही आत्म-सम्मान शेष है। यही बोध पश्चिम के प्रयोगधर्मी या विसंगत नाटकों तथा हिंदी के नए नाटकों में ढाला जाने लगा। इस बोध ने शैली शिल्प के स्तर पर हिंदी के नए नाटककार को पश्चिम के सभी प्रचलित रंग प्रयोगों से, चाहे वह ब्रेख्ट की महाकाव्यात्मक रंग प्रणाली हो, चाहे व्यक्ति समस्याओं को मूर्तमान करने वाली विसंगत नाटक की रंग पद्धति हो—सबसे तत्व ग्रहण कर अपने नाटकों का सृजन करने के लिए प्रेरित किया। ब्रेख्ट की वाद्य, नृत्य, गान भरी अभिनय प्रणाली और विसंगत नाटक की प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण प्रणाली, दोनों शैलियों को हिंदी के नए नाटकारों ने अपनाया। किसी एक विशेष रंग शैली का ही अथ से इति तक अनुकरण हिंदी के नए नाटककारों का अभीष्ट नहीं रहा है। हिंदी का नया नाटक, इस प्रकार अपने ढंग का प्रयोगधर्मी रंगमंच विकसित करने में समर्थ हो सका है। फिर भी विसंगत नाटक के शैली शिल्प एवं संवेदना से वह अधिक प्रभावित हुआ है।

नये नाटक में लोक ग्राह्यता की तुलना में व्यक्तिगत विशेषता को अधिक महत्व दिया गया है। हिंदी के **नये नाटककार** व्यक्ति चरित्रों के आंतरिक द्वंद्वों एवं उलझनों को मूर्तित करने की ओर अधिक अग्रसर रहे हैं। कुछ ही नए नाटककार ऐसे हैं जिन्होंने समाज की आधारभूत समस्याओं के साथ व्यक्ति की आंतरिकता को जोड़ने का सार्थक प्रयास किया है। जगदीश चन्द्र माथुर के 'कोणार्क' नाटक और धर्मवीर भारती के ' अंधा युग' काव्य नाटक में ऐसे नाट्य सृजन के सार्थक सूत्र प्रकट हुए थे, किंतु आगे के नाटककार विसंगत के ढर्रे पर अस्तित्वखोजी व्यक्ति चरित्रों की दिशाहीन क्रियाओं को प्रस्तुत करने के नए-नए प्रयोग करने में लग गए। इन नाटककारों ने व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व की खोज के नाम पर मनुष्य के आचरण, व्यवहार या क्रियाओं का एक ऐसा गड्ड-मड्ड संसार प्रस्तुत किया है, जो दिशाहीन होने की व्याकुलता की ही संवेदना भरता है। जीवन के किसी सकारात्मक प्रवाह का संकेत नहीं देता है। मूल्यहीनता की दिशाहीन दुनिया में भटकने के लिए ही दर्शक को छोड़ दिया जाता है। अस्तित्व की खोज किसी सार्थक क्रांति के तहत नहीं की गई है। नाटककार की नाट्य सृष्टि ऐसी लगती है, जैसे हर स्तर पर स्तब्ध विवशता का बोध ही आज के मनुष्य की नियति है।

कुछ उल्लेखनीय नाटक और नाटककार हैं : **लक्ष्मी नारायण लाल** के नाटक – 'सूर्यमुख', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'दर्पण', 'अब्दुल्ला दीवाना','सूखा-सरोवर', 'मादा कैक्टस', अंधा कुंआ'

आदि ; **मोहन राकेश** के नाटक - 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे', आदि ; **सुरेन्द्र वर्मा** के नाटक - 'द्रौपदी', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'आठवाँ सर्ग', ; **लक्ष्मीकान्त वर्मा** का नाटक - 'अपना-अपना जूता'; **ललित सहगल** का -'हत्या एक आकार की ; **अज्ञेय** का - उत्तर प्रियदर्शी ; **बृजमोहन शाह** का - ' त्रिशंकु ; **डॉ. शंकर शेष** का - 'एक और द्रोणाचार्य'; **दया प्रकाश सिन्हा** का - 'कथा एक कंस की' ; **रेवती शरन शर्मा** का - 'राजा बलि की नयी कथा'; **गिरिराज किशोर** का - 'प्रजा ही रहने दो' ; **नरेन्द्र कोहली** का - 'शम्बूक की हत्या'; **ज्ञानदेव अग्निहोत्री** का - 'शुतुरमुर्ग'; **सर्वेश्वर दयाल** का - 'बकरी'; **सुशील कुमार सिंह** का - सिंहासन खाली है'; **मुद्राराक्षस** के - 'मरजीवा', 'तिलचिट्टा', 'योर्स फेथफुली'; **काशी नाथ सिंह** का - 'धोआस ; **रमेश बख्शी** के - 'देवयानी का कहना है' 'तीसरा हाथी'; **हमीदुल्ला** के विसंगत नाटक - 'उलझी आकृतियाँ' 'दरिन्दे' एवं 'उत्तर उर्वशी' आदि।

21.5 जनवादी नाटक

मार्क्सवादी चेतना का भारतीय रंग प्रयोग समसामयिक जीवन की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि समास्याओं को नाटक का कथानक बनाने वाली यथार्थवादी नाटकों की एक शाखा को, जो राजनीतिक स्तर पर मार्क्सवादी विचाराधारा के प्रतिबद्ध थी, जनवादी नाटक कहा जाने लगा। सन् 1942-43 में कम्युनिस्ट विचारधारा से जुड़े विचारकों और कलाकारों ने जन नाट्य संघ (इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन) की स्थापना की। मार्क्सवादी विचारधारा में जिसे सर्वहारा वर्ग कहा गया है।, उसी के पर्याय रूप में जहाँ जन शब्द का प्रयोग लक्षित है। जन-नाट्य संघ के कलाकारों ने हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती एवं अन्य भारतीय भाषाओं के क्षेत्रों में लोगों के बीच जनवादी-चेतना जाग्रत करने के लिए उनकी भाषा में नाट्य प्रदर्शन किए। शुरू में तो जनवादी नाट्य के प्रदर्शनों का लक्ष्य द्वितीय महायुद्ध का विरोध करना था। यह विरोध सर्वहारा वर्ग के हितों की उस विरोधी ताकत के खिलाफ था, जो हिटलर के अधिनायकवाद के रूप में उभर रही थी। इसी उद्देश्य से सरवालकर का लिखा नाटक 'दादा' और जाफरी कृत नाटक 'यह खून किसका है' जन नाट्य मंच द्वारा मुम्बई में खेला गया था। बाद में जनवादी नाट्य मंच पर ऐसे नाटक प्रदर्शित किए जाने लगे जिनमें सर्वहारा वर्ग के शोषण के मार्मिक चित्र प्रकट थे और इस प्रकार व्यवस्था के खिलाफ जनाक्रोश जगाया जाने लगा या बंगाल के मानव-निर्मित अकाल ने (1944) इस नव चेतना के लिए उर्वर भूमि प्रदान की।

जन-नाट्य-मंच के लिए अधिक सार्थक नाटक बंगला साहित्य में ही रचे गए। विजन भट्टाचार्य के नाटक 'जबानबन्दी' और 'नवान्न'ने जनवादी नाट्य सृजन को नई गति प्रदान की। इनके अनुकरण पर दूसरी भाषाओं (हिंदी, मराठी, गुजराती आदि) में भी इस ढर्रे का नव लेखन संपन्न हुआ।

हिन्दी जन-नाट्य मंच के कुछ महत्वपूर्ण नाटकों में सज्जाद जहीर कृत नाटक 'तूफान से पहले' है। सन् 1946 में इस नाटक को उपेन्द्र नाथ अश्क के निर्देशन में खेला गया है। इसी प्रकार जन नाट्य मंच के रंगकर्मियों ने ख्वाजा अहमद अब्बास कृत नाटक 'मैं कौन हूँ' (1947), राजेन्द्र सिंह बेदी कृत नाटक 'नकले मकानी' अथवा 'जादू की कुर्सी' (1948), हबीब तनवीर कृत 'शतरंज के मोहरे' विश्वामित्र द्वारा लिखित 'दखन की रात' (1949) आदि नाटकों का स्थान-स्थान पर मंचन करके जन चेतना को आंदोलित करने का प्रयास किया।

जन-नाट्य-मंच के रंगकर्मी और कलाकार आजादी के बाद भी लगभग सन् 1960 तक पर्याप्त सक्रिय रहे। आजादी के बाद के जनवादी नाटककारों ने बँटवारे के समय की साम्प्रदायिक अमानवीयता को अपने नाटकों का विषय बनाया। भीष्म साहनी कृत 'भूत गाड़ी' इस दौर का बहुचर्चित हिंदी जनवादी नाटक माना जाता है।

हिंदी जन-नाट्य-मंच के रंगकर्मियों ने अधिकतर मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों का ही नाट्य रूपांतर करके मंच पर प्रस्तुत किया। सन् 1951 के बाद जनवादी नाट्य मंच पर 'गोदान', 'सेवासदन', 'कर्मभूमि','कफन', 'ईदगाह', 'सवा सेर गेहूँ' का सफल मंचन किया गया। राजेन्द्र सिंह रघुवंशी ने नाट्य रूपांतर तैयार किया। उत्पल दत्त के नाटकों - 'पीरअली' और 'प्लानिंग' का भी हिंदी जन-नाट्य-मंच के रंगकर्मी कलाकारों और प्रयोक्ताओं ने जगह-जगह मंचन किया।

जन-नाट्य-मंच पर अभिनीत नाटकों में अधिकांश की कोई विधिवत पांडुलिपि नहीं होती थी। लेखक प्रदर्शन के लिए नाटक का एक काम चलाऊ ढाँचा तैयार कर देते थे; रंग निर्देशक या प्रयोक्ता एवं अभिनेता आदि अन्य कलाकार उसमें अपने ढंग से रंगभर कर प्रस्तुत करते थे।

जन-नाट्य-मंच की प्रदर्शन शैली लोक नाटकों की प्रदर्शन शैली को उपजीव्य बनाकर विकसित हुई। अतएव उसमें अपनी मिट्टी के अभिनय की गंध मिलती थी। यह रंगकर्म स्वतंत्र भारत की सामाजिक न्यायमूलक नवचेतना को, नई मानवीयता की दृष्टि को, उन्मीलित करने में संलग्न तो था, किंतु मार्क्सवाद से प्रतिबंधित राजनीतिक चेतना को अपनाने के कारण बहुत व्यापक रूप से स्वीकृत नहीं हुआ। सन् 1960 तक आते-आते इस रंगमंच के क्रियाकलाप समाप्त प्राय से हो गए। फिर भी नया नाट्य लेखन की समाजोन्मुखी धारा को प्रभावित करने में जन-नाट्य-मंच का योगदान महत्वपूर्ण है। जगदीश चन्द्र माथुर के 'कोणार्क' का सृजन इसी रंगमंच की सामाजिक राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में संपन्न हुआ था, जो हिंदी नव-नाट्य लेखन का एक कलात्मक प्रतिमान है।

नया नाटक की परवर्ती धारा **विसंगत नाटक** की है। पश्चिम में बेकेट का 'वेटिंग फॉर दगोडो' एब्सर्ड नाटक के रूप में बहुत चर्चित नाटक बना था। एब्सर्ड नाटक में युग जीवन की विसंगतियों, अंधविश्वासों, ऊल-जलूल प्रसंगों को प्रदर्शित कर जीवन को ग्रस्त करने वाली दिशाहीनता का गहरा अहसास कराया जाता है। हिंदी में इसके बीज भुवनेश्वर के 'ऊसर' आदि एकांकियों में सुलभ हैं। विपिन कुमार अग्रवाल के नाटक 'कूड़े का पीपा', लोटन', 'राष्ट्र सम्राट', 'अपने देश में', 'मौत एक कुत्ते की', बृजमोहन शाह के नाटक 'त्रिशंकु', 'शह-ए-मात', मोहन राकेश के नाटक 'मैड डिलाइट', 'छतरियाँ', मुद्राराक्षस के नाटक 'तिलचिट्टा', 'मरजीवा', शरद जोशी के नाटक 'अंधों का हाथी', मणि मधुकर का नाटक 'खेला पोलमपुर' हिंदी के कुछ बहुचर्चित विसंगत नाटक हैं।

21.6 नुक्कड़ नाटक

आजादी के बाद क्रमश: जनवादी रंगमंच शिथिल पड़ने लगा था। जन नाट्य संघ के रंग-निर्देशक (उत्पल दत्त, बलराज साहनी आदि) और रंगकर्मी एवं अभिनेता फिल्मों में चले गए। फलत: सन् 1960 तक आते-आते जन नाट्य संघ के तत्वावधान में होने वाले रंगमंचीय सांस्कृतिक क्रियाकलाप बंद हो गए। किंतु जन नाट्य मंच ने सामाजिकता एवं सामाजिक न्याय की जो चेतना जगाई थी, वह समाजवादी राजनीतिक संगठनों के विकास के नए-नए रूपों में प्रकट होती रही। आजाद भारत की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में प्रकट अंतर्विरोध के कारण भुखमरी, गरीबी, शोषण और अन्याय के खिलाफ जनता के असंतोष और विद्रोह के स्वर मुखरित होते ही रहे। सरकार की नीतियों के विरुद्ध हड़ताल और प्रदर्शनों का भी सिलसिला चलता ही रहा। इसी चेतना के परिप्रेक्ष्य में सातवें दशक से ही नुक्कड़ नाटकों का नया रंग प्रयोग शुरू हुआ।

नुक्कड़ नाटक : बिना मंच का रंग-प्रयोग

परंपरागत रंगमंचीय प्रस्तुतियों से भिन्न नुक्कड़ नाटक एक नूतन रंग प्रयोग है। इस शैली के नाट्य प्रदर्शन में किसी प्रेक्षागृह की जरूरत नहीं होती, किसी प्रकार की साज-सज्जा का भी आयोजन नहीं किया जाता। नुक्कड़ नाटक में रोज़-मर्रा की स्थानीय जिंदगी की विडंबनाओं, विसंगतियों और अंतर्विरोधों को सामने रखना अपेक्षित होता है। अत: अभिनय में शरीक होने वाले पात्र, जहाँ जिस वेश में होते हैं उसी वेश में अभिनय में हिस्सा लेते देखे जाते हैं। उसका रंगमंच तो झुग्गी-झोपड़ी के बीच की कोई खाली भूमि, कस्बा या नगर का कोई नुक्कड़ या सड़क चौराहा अथवा गाँव की चौपाल, स्कूल का मैदान या कालेज का लान कुछ भी हो सकता है। बस, नुक्कड़ नाटक की मंडली के किसी एक अभिनेता की आवाज या पुकार पर भीड़ इकट्ठी हुई, दर्शकों का एक घेरा-सा बना कि नाटक शुरू। नुक्कड़ नाटक के अभिनय की यह विशेषता है कि दर्शकों से घिरा हुआ, उनके जैसा ही कोई पात्र उनसे संवाद शुरू कर देता है और उनकी साझेदारी के लिए उन्हें उत्साहित करता है। दर्शक का अनौपचारिक प्रवेश-प्रस्थान होता रहता है। इस प्रकार नुक्कड़ नाटक सज्जाविहीन खुले रंग स्थल में संपन्न होने वाला नाट्य व्यापार है। इसमें परंपरागत रंगमंचीय साधनों और प्रसाधनों का सर्वथा अभाव रहता है।

नुक्कड़ नाटक के अभिनेता किसी स्थानीय मुद्दे को लक्ष्य कर स्वयं ही आशु नाटककार की तरह नाटक रचते हैं तथा उसे व्यापक रूप से सामाजिक-राजनीतिक विडम्बनाओं और विसंगतियों पर कटाक्ष करने का आधार बनाते हैं। तात्कालिक जीवन की कोई भी अनुचित अमानवीय और अन्यायपूर्ण स्थानीय घटना को नुक्कड़ नाट्यकार केंद्र बनाकर समाज और राजनीति की अतार्किक, अमानवीय और अनैतिक या अतिनैतिक घटना पर कटाक्ष भरी टिप्पणी करते हैं, उसे हास्य-व्यंग्य की भाषा में उपस्थित कर दर्शक का रंजन भी करते है और एक नई मानवीय सोच भी पैदा करते हैं। हमारे समाज में हमारी आँखों के सामने रोज ही कुछ बेतुका घटित होता रहता है, जिसके पीछे कोई धार्मिक अंधविश्वास छिपा रहता है, कोई राजनीतिक दाँव-पेंच निहित होता है या कोई आर्थिक घोटाला कारण बनकर हमारे वर्तमान जीवन को प्रभावित करता है। इसी प्रत्यक्ष को नाटकीय ढंग से नुक्कड़ नाट्यकर्मी प्रस्तुत करते हैं। नुक्कड़ नाटक की कोई औपचारिक पांडुलिपि नहीं होती।

नुक्कड़ नाट्य के शिल्प का आधार तो लोक नाट्यों की नृत्य गान प्रधान शैली ही है, परंतु उसमें आलोचनात्मक टिप्पणी प्रधान संवाद का नया आयाम भी जुड़ा रहता है। इसे ब्रेख्ट की नाट्य प्रदर्शन शैली से ले लिया गया है। यही इसकी शैली शिल्प का एक मौलिक पक्ष है। वृन्दगान या सामूहिक गीत की शैली में सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था पर टिप्पणी करना वर्तोल ब्रेख्ट के **एपिक रंगमंच** का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस प्रकार ब्रेख्ट ने वृन्दगान या सामूहिक गीत का जिस प्रकार से राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था पर आलोचनात्मक टिप्पणी के लिए प्रयोग किया, उसी का अनुकरण नुक्कड़ नाट्य प्रयोगों में भी अपना लिया गया। इसीलिए सामान्य लोक-नाटक से नुक्कड़ नाटक अधिक गंभीर एवं सार्थक रंगकर्म प्रतीत होता है।

भारतीय रंगमंच के क्षेत्र में नुक्कड़ के रंग प्रयोग का श्रेय बादल सरकार को है। बादल सरकार ने 'जुलूस', 'हत्यारे', 'औरत', 'मशीन', नाम से प्रसिद्ध नुक्कड़ नाटकों की रचना की। आज प्राय: सभी प्रमुख नगरों में नुक्कड़ नाटक प्रदर्शित होते दिखलाई पड़ते हैं। जनता को अपने जीवन परिवेश के प्रति सजग करने में नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन का योगदान सराहनीय है। भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच के स्वरूप विकास में इस नाट्य शैली से बहुत कुछ तत्व संकलित किए जा सकते हैं।

21.7 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप हिंदी नाट्य-साहित्य से भली-भाँति परिचित हो चुके होंगे। हिंदी नाट्य साहित्य का आरंभ लगभग 19वीं शताब्दी से हुआ। संपूर्ण हिंदी नाट्य साहित्य को अध्ययन की सुविधा के लिए विविध युगों में विभाजित किया गया है। हिंदी नाटक के मंच पर प्रसाद के आर्विभाव से एक नया अध्याय जुड़ा। उन्होंने हिंदी नाट्य सृजन को एक नयी शैली दी। इसी समय इब्सन के ढर्रे के सामाजिक या समस्या नाटक की शैली का अनुकरण करते हुए हिंदी के अनेक नाटककार यथार्थमूलक नाटकों के लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। आगे चलकर हिंदी नाटकों में जो वस्तुगत तथा शैली-शिल्पगत प्रयोग किए गए उनकी जानकारी आपको इस इकाई में दी गई ।

21.8 अभ्यास प्रश्न

1) भारतेंदु युग के नाटकों की अंतर्वस्तु पर प्रकाश डालिए।
2) 'नया नाटक' के प्रारंभ और विकास पर लेख लिखिए।
3) यथार्थ एवं समस्या नाटकों के विकास का परिचय दीजिए।

इकाई 22 हिंदी आलोचना

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-6 "हिंदी भाषा एवं साहित्य का इतिहास" से संबंधित इस इकाई में हिंदी आलोचना पर प्रकाश डाला गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- हिंदी आलोचना के उद्भव और विकास को समझा सकेंगे;
- हिंदी आलोचना की प्रारंभिक स्थिति का परिचय दे सकेंगे;
- हिंदी आलोचना के विकास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- परवर्ती हिंदी आलोचना (शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना) पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रभावों को जान सकेंगे;
- स्वातंत्र्योतर हिंदी आलोचना की दशा और दिशा की जानकारी प्राप्त पर सकेंगे;
- हिंदी में प्रचलित विभिन्न आलोचना पद्धतियों से अवगत हो सकेंगे;
- हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं से संबंधित आलोचना की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे;
- हिंदी आलोचना की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाल सकेंगे; और
- हिंदी के प्रमुख आलोचकों के अवदान और वैशिष्ट्य को बता सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

प्रवर्तक साहित्यकार भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय से ही हिंदी साहित्य में आधुनिक काल की शुरुआत हुई और इसी युग से अनेक गद्य-विधाओं - कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि- की विकास यात्रा आरंभ हुई। अब तक आपने कहानी, अपन्यास और नाट्य साहित्य के उद्भव और विकास का परिचय प्राप्त किया है। इस इकाई में हिंदी आलोचना के विकास पर प्रकाश डाला जा रहा है। इससे आप हिंदी आलोचना के विकासात्मक स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।

रचना को समझने के लिए आलोचना की जरूरत पड़ती है। आलोचना का अर्थ है किसी वस्तु या कृति का सम्यक् मूल्यांकन करना। इस मूल्यांकन-प्रक्रिया में रसास्वादन, विवेचन, परीक्षण, विश्लेषण आदि का योगदान होता है। आलोचना, रचना और पाठक या सहृदय के बीच सेतु का कार्य करती है। यह रचना के मूल्य और सौंदर्य को उद्घाटित करती है, पाठक की समझ का विस्तार करती है और कृति को जाँचने-परखने के लिए उसे आलोचनात्मक दृष्टि देती है। रचना के गुण-दोष विवेचन से लेकर उसमें अंतर्निहित सौंदर्य और मूल्य के उद्घाटन तक की यात्रा करने वाली आलोचना की भी अनेक पद्धतियाँ हैं जैसे निर्णयात्मक आलोचना, तुलनात्मक आलोचना, ऐतिहासिक आलोचना, सैद्धांतिक आलोचना, व्यावहारिक आलोचना आदि। इस इकाई में आप हिंदी आलोचना के क्रमिक विकास का अध्ययन करके यह जान सकेंगे कि जो हिंदी आलोचना प्रारंभ में पुस्तक-परिचय और सामान्य गुण-दोष-विवेचन तक ही सीमित थी, बाद में उसमें अनेक आलोचना-पद्धतियों का विकास हुआ और गद्य की यह विधा इतनी समर्थ और सशक्त हुई कि इसने रचना के समानान्तर अपने को प्रतिष्ठित कर लिया। अनेक आलोचकों की उत्कृष्ट आलोचनाओं ने यह प्रमाणित किया कि आलोचना रचना की अनुवर्ती नहीं है बल्कि उसकी भी एक स्वतंत्र सत्ता है और रचना की तरह वह भी एक सृजन है। इस इकाई में आप हिंदी आलोचना की विकास-यात्रा का आलोचनात्मक परिचय प्राप्त करने के साथ-साथ उसकी शक्ति और सीमा की भी जानकारी प्राप्त करेंगे। आशा है, इस इकाई को पढ़ने के बाद आप हिंदी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियों, विशेषताओं और पद्धतियों को अच्छी तरह समझ जाएँगे और यह भी जान जाएँगे कि हिंदी आलोचना में कब और कैसे नए मोड़ या परिवर्तन उपस्थित हुए।

22.2 आधुनिक हिंदी आलोचना की आरंभिक स्थिति

आधुनिक हिन्दी आलोचना की आरंभिक स्थिति पर प्रकाश डालने से पूर्व आपको यह बता देना जरूरी है कि हिंदी में आलोचना का उद्भव और विकास आधुनिक काल में ही हुआ है। इस इकाई में आप हिंदी आलोचना का जो विकासात्मक परियच प्राप्त करेंगे वह आधुनिक हिंदी आलोचना का ही परिचय और इतिहास है। फिर भी संक्षेप में आधुनिक काल से पहले की हिंदी आलोचना की जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

22.2.1 आधुनिक काल से पहले की हिंदी आलोचना

हिंदी साहित्य के आदिकाल और भक्तिकाल में आलोचना का कार्य नहीं हुआ। इस काल के कवि संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों से प्रेरणा लेकर काव्य-रचना करते रहे और अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र अपने काव्यादर्शों का भी उल्लेख करते रहे, किंतु उनके समय में न तो उनके उल्लेखों के आधार पर काव्य-सिद्धांतों की सृष्टि हुई, न ही उनकी रचनाओं के मूल्यांकन-परीक्षण की प्रक्रिया आरंभ हुई।

रीतिकाल में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों से प्रेरणा लेकर केशवदास, चिन्तामणि, मतिराम, कुलपति मिश्र, भिखारीदास आदि अनेक आचार्य-कवियों ने रस, छंद, अलंकार, रीति, शब्दशक्ति और नायक-नायिका भेद से संबंधित अनेक लक्षण-ग्रंथों की रचना की किंतु इनसे सिद्धांत-निरूपण से आगे बढ़कर व्यावहारिक समीक्षा का मार्ग प्रशस्त नहीं हुआ। इसका एक बड़ा कारण यह था कि उस समय तक गद्य का विकास नहीं हुआ था। सारी बातें पद्य में लिखी जाती थीं। पद्य में किसी बात पर तर्क-वितर्क करना, उसका सम्यक् मूल्यांकन और विश्लेषण करना संभव नहीं था, इसलिए व्यावहारिक आलोचना का मार्ग अवरुद्ध

रहा। डॉ रामचन्द्र तिवारी का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि लगभग दो सौ वर्षों तक निरंतर सिद्धांत-निरूपण में लीन रहने पर भी हिंदी के आचार्य न तो किसी मौलिक सिद्धांत की स्थापना कर सके और न संस्कृत के सिद्धांतों को ही विकसित कर सके। रीतिकाल में व्यावहारिक आलोचना का रूप संस्कृत की सूत्र-शैली के रूप में ही प्रचलित रहा- वह भी पद्य में ही। इस काल में कवियों की विशेषताओं को सूत्र-रूप में व्यक्त करने की पद्धति क्षीण रूप में प्रचलित थी। जैसे बिहारी के दोषों से संबंधित यह उक्ति-

सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर।।

कभी-कभी कवियों की पारस्परिक तुलना भी की गई -

सूर-सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास।।

आलोचना का यह स्फुट रूप, गहन चिन्तन, मनन और विश्लेषण से शून्य था। इसमें प्रभावात्मक अभिव्यक्ति और प्रशंसात्मक मूल्यांकन की प्रधानता थी। खंडन-मंडन की इस शैली से साहित्य का न तो मूल्यांकन संभव था, न उसका रसास्वादन।

22.2.2 भारतेंदु युगीन हिंदी आलोचना : आधुनिक हिंदी आलोचना का सूत्रपात

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल का आरंभ भारतेंदु के समय (सन् 1850-1885) के साथ ही माना जाता है। जैसा कि आप इकाई सं.- 13 में पढ़ चुके हैं कि इसी कालखंड में भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का व्यापक प्रभाव पड़ा। भारतीय जनता में बौद्धिकता, तार्किकता और भौतिकवादी दृष्टिकोण का प्रसार हुआ और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अन्य गद्य रूपों के साथ हिंदी आलोचना के नए और आधुनिक रूप का जन्म हुआ। भारतेंदु द्वारा सम्पादित -- "कविवचनसुधा" और "हरिश्चन्द्र मैगजीन" में समीक्षा के स्तम्भों में पुस्तकों की समीक्षाएँ प्रकाशित होती थीं। "हिंदी प्रदीप", "भारतमित्र","ब्राह्मण", "आनंद कादम्बिनी" आदि ने भी पुस्तकों की समीक्षाएँ प्रकाशित करके इस विधा को गति प्रदान की। यद्यपि आरंभ में ये समीक्षाएँ परिचयात्मक एवं साधारण कोटि की थीं लेकिन धीरे-धीरे उनमें निखार और परिष्कार भी आता गया।

भारतेंदु ने अपने "नाटक" नामक लेख में नाटक पर विचार करते समय उसकी प्रकृति, समसामयिक जीवन रुचि, स्वाभाविकता, यथार्थता और प्राचीन नाट्यशास्त्र की उपयोगिता तथा नए नाटकों की आवश्यकता का जो विवेचन किया है, उसे हिंदी आलोचना का प्रथम उन्मेष मानना चाहिए और भारतेंदु को हिंदी का प्रथम आलोचक। यद्यपि भारतेंदु व्यावहारिक आलोचना का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सके, वे ज्यादातर सैद्धांतिक विवेचन तक ही सीमित रह गए, किंतु उनके विवेचन में आलोचना-दृष्टि का जो उन्मेष हुआ, उसको **बालकृष्ण भट्ट और चौधरी बदरी नारायण 'प्रेमघन'** ने आगे बढ़ाया। आलोचना के अंतर्गत किसी कृति के मूल्यांकन का कार्य इन्हीं दोनों की समीक्षाओं से आरंभ हुआ। प्रेमघन जी ने "आनंद कादम्बिनी" में बाणभट्ट की "कादम्बरी" की जहाँ प्रशंसात्मक समीक्षा की, वहीं बाबू गदाधर सिंह द्वारा लिखे गए "बंग विजेता" नामक बंगला उपन्यास की विस्तृत समीक्षा उपन्यास के तत्वों के आधार पर की और स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता तथा सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से उपन्यास के गुण-दोषों का उल्लेख किया। लाला श्रीनिवास दास के "संयोगिता स्वयंवर" नाटक की समीक्षा जहाँ प्रेमघन ने "आनंद कादम्बिनी" में बड़े प्रशंसात्मक ढंग से की, वहीं बालकृष्ण भट्ट ने "हिंदी प्रदीप" में "सच्ची समालोचना" के नाम से उसकी कटु समीक्षा की। इस तरह भारतेंदु युग में एक ओर परम्परागत साहित्य सिद्धांतों को विकसित करने का प्रयत्न हुआ और दूसरी ओर व्यावहारिक समीक्षा का सूत्रपात हुआ।

22.2.3 द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना

हिंदी भाषा और साहित्य के विकास एवं परिष्कार के लिए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जो कार्य किया, वह हिंदी साहित्य में अद्वितीय है। उनके युग में हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि तो हुई ही, साहित्यालोचना के

क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य हुआ। इस युग में यद्यपि हिंदी आलोचना का गंभीर एवं तात्विक रूप तो नहीं निखरा किंतु अनेक महत्वपूर्ण आलोचना-पद्धतियाँ अवश्य विकसित हुईं, जैसे - शास्त्रीय आलोचना, तुलानात्मक मूल्यांकन एवं निर्णय, परिचयात्मक तथा व्याख्यात्मक आलोचना, अन्वेषण तथा अनुसंधानपरक समीक्षा आदि।

रीतिकालीन लक्षण-ग्रंथों की परम्परा का पालन करते हुए अनेकों विद्वानों ने इस युग में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना करके शास्त्रीय एवं सैद्धांतिक समीक्षा को परिपुष्ट किया। राजा मुरारीदान कृत "जसवन्त भूषण", महाराजा प्रतापनारायण सिंह कृत "रसकुसुमाकर", जगन्नाथ भानु कृत "काव्यप्रभाकर", लाला भागवानदीन कृत "अलंकारमंजूषा", सीताराम शास्त्री कृत "साहित्य सिद्धांत" आयोध्या सिंह उपाध्याय कृत "रसकलश" आदि इस युग के वे सैद्धांतिक ग्रंथ हैं जिनसे हिंदी की शास्त्रीय आलोचना का विकास हुआ है। इन ग्रंथों में रीतिकालीन लक्षण-ग्रंथों की परम्परा का तो निर्वाह हुआ ही है, अंग्रेजी, फारसी, उर्दू आदि भाषा-साहित्यों के संपर्क और युगीन प्रभावों के फलस्वरूप कतिपय नई बातों का भी समावेश हुआ है।

प्राचीन सिद्धांतों के परिपोषण और विवेचन के साथ ही इस युग के नवीन सिद्धांतों के प्रतिपादन का भी कार्य हुआ है। इस दृष्टि से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पुन्नालाल बख्शी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास और गुलाब राय के नाम उल्लेखनीय हैं। द्विवेदी जी ने "**रसारंजन**" में विषय के अनुकूल छंदयोजना, सरल भाषा के प्रयोग, अर्थ-सौरस्य, मनोरंजन के स्थान पर युगबोध, नैतिकता, मर्यादा, देश-प्रेम आदि से संबंधित उच्च भावों की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया और रीतिकालीन कविता की अतिश्रृंगारिकता तथा विलासिता की प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना करते हुए कहा कि इससे न तो देश और समाज का कल्याण हो सकता है, न उसके सर्जक का ही। उन्होंने अपने "कवि कर्त्तव्य" नामक निबंध में विस्तार के साथ कवि के नए कर्त्तव्यों का बोध कराते हुए काव्य-विषय, काव्य-भाषा, शैली, उद्देश्य आदि का जो विवेचन किया है, उससे पता चलता है कि द्विवेदी जी नवीनता के पोषक थे और नयी परिस्थितियों में साहित्य साधना को नए दायित्वों से जोड़ना चाहते थे। उन्होंने "सरस्वती" पत्रिका के माध्यम से इस कार्य को सम्पन्न किया और हिंदी भाषा, साहित्य और आलोचना को नयी दिशा प्रदान की।

द्विवेदी-युग में तुलनात्मक समीक्षा में विशेष प्रगति हुई। इस युग में साहित्यकारों का संस्कृत के साथ-साथ अंग्रेजी, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं के साहित्य से घनिष्ठ परिचय होने के कारण तुलनात्मक एवं निर्णयात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति का विकास हुआ। इस क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबंधु (श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र, गणेश बिहारी मिश्र), लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र ने विशेष कार्य किया। सबसे पहले पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी' और फारसी के कवि 'सादी' की तुलनात्मक आलोचना की, उसके बाद मिश्रबंधुओं ने "हिंदी नवरत्न" नामक ग्रंथ में तुलनात्मक मूल्यांकन के आधार पर हिंदी के नौ कवियों (सूर, तूलसी, देव, बिहारी, केशव, भूषण, सेनापति, चन्द, हरिशचन्द्र) को श्रेणीबद्ध करके उनकी आलोचना प्रकाशित की। बाद में उनके इस श्रेणी-निर्धारण में परिवर्तन भी होता रहा मिश्र बंधुओं ने देव को बिहारी से ऊँचा कवि माना, इसके उत्तर में पद्मसिंह शर्मा ने "बिहारी" को बड़ा सिद्ध किया। बाद में तुलना के इस अखाड़े में कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन भी आ गए। कृष्णबिहारी मिश्र ने "देव और बिहारी" पुस्तक लिखकर देव को बड़ा कवि सिद्ध किया, इस पर लाला भगवानदीन ने "बिहारी और देव" पुस्तक लिखकर बिहारी को बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इस तरह तुलनात्मक समीक्षा का एक ऐसा मार्ग निकला जिसमें प्रचीन सिद्धांतों के आलोक में हिंदी कवियों की व्यावहारिक समीक्षा की गई। यह शास्त्रीय आलोचना के भीतर जन्म लेने वाली वह व्यावहारिक समीक्षा थी जिसमें गुण-दोष विवेचन और बड़ा-छोटा सिद्ध करने की प्रवृत्ति अधिक थी। जीवन और समाज के व्यापक संदर्भों में साहित्य को समझने की यदि कोशिश की गई होती तो इस आलोचना में अधिक व्यापकता आ जाती।

आलोचना की नवीन व्यावहारिक पद्धति का प्रयोग भारतेंदु युग की पुस्तक परिचय वाली आलोचना में ही प्रकट होने लगा था। किंतु उसका विकास द्विवेद्वी युग में "सरस्वती" पत्रिका के माध्यम से हुआ। इस युग में पुस्तक परिचय से पुस्तक-समीक्षा और फिर साहित्यिक समालोचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस युग में "साहित्यालोचन" की प्रवृत्तियों और आदर्शों पर अनेक लेख "नागरी प्रचारिणी पत्रिका", "सरस्वती", "समालोचक", "इन्द्र", "माधुरी", आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने "समालोचना" नामक लेख प्रकाशित करके समालोचक के गुणों - मूलग्रंथ का ज्ञान,

सत्य-प्रीति, शांत स्वभाव और सहृदयता - को रेखांकित किया। इसी पत्रिका में जगन्नाथदास "रत्नाकर" ने अंग्रेजी साहित्यकार पोप के "एसे ऑन क्रिटिसिज्म" का अनुवाद "समालोचनादर्श" के नाम से प्रकाशित किया। इस तरह साहित्य-समीक्षा के स्वरूप और आदर्श पर विचार-विमर्श शुरू हुआ। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने "विक्रमांकदेव चरित नैषधचरित चर्चा" और "कालिदास की निरंकुशता" जैसे लेखों से व्यावहारिक समीक्षा का मार्ग प्रशस्त किया और संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी, मराठी और उर्दू साहित्य में प्राप्त महत्वपूर्ण सामग्री की जानकारी हिंदी पाठकों को दी जिसे आचार्य शुक्ल ने "एक मुहल्ले की बात दूसरे मुहल्ले तक पहुँचाने" का कार्य कहा, किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि यह हिंदी पाठकों, सर्जकों और समीक्षकों को ज्ञान से समृद्ध करने वाला एक महत्वपूर्ण कार्य था। द्विवेदी जी ने समालोचक का कर्त्तव्य निर्धारित करते हुए लिखा है - "किसी पुस्तक या प्रबंध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।"

द्विवेदी युग में ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की व्यावहारिक समीक्षा की व्याख्यात्मक पद्धति विकसित हुई। चूँकि शुक्ल जी की आलोचना कई तरह से हिंदी आलोचना में एक मानक की तरह है और द्विवेदी युग की आलोचना से काफी आगे की है, इसलिए इसकी विशेष चर्चा शुक्ल युगीन हिंदी आलोचना के अंतर्गत की जाएगी।

द्विवेदी युग में ही अनुसंधानपरक समीक्षा का विकास हुआ। वैसे तो "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" में प्रकाशित लेखों से ही इस पद्धति के दर्शन होने लगे थे, किंतु उसका सम्यक् विकास द्विवेदी-युग में 1921 ई. में बाबू श्याम सुंदर दास के काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग में नियुक्त होने के बाद ही हुआ। शोध या अनुसंधानपरक आलोचना में अनुपलब्ध या अज्ञात तथ्यों का अन्वेषण तथा उपलब्ध तथ्यों का नवीन आख्यान आवश्यक होता है। बाबू श्यामसुंदर दास, राधाकृष्ण दास, जगन्नाथ दास रत्नाकर और सुधाकर द्विवेदी ने द्विवेदी युगीन अनुसंधानपरक आलोचना का स्वरूप विकसित करने में योग दिया है।

इय प्रकार द्विवेदी युग में हिंदी आलोचना विभिन्न पद्धतियों को विकसित करती हुई उत्तरोत्तर शक्ति सम्पन्न हुई। इसी युग में पाश्चात्य साहित्य से परिचित होकर और उसका स्वस्थ प्रभाव ग्रहण कर हिंदी आलोचना ने स्वतंत्र व्यक्तित्व प्राप्त किया और इसमें कवि-विशेष के सामान्य गुण-दोष के विवेचन के साथ ही रचना की गहरी छान-बीन, देश और समाज के परिप्रेक्ष्य में साहित्य की उपयोगिता और मूल्यवत्ता को परखने की प्रवृत्ति विकसित हुई।

22.2.4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना

द्विवेदी-युग की सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा को विकसित एवं समृद्ध करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। वे हिंदी आलोचना के प्रशस्त-पथ पर एक ऐसे आलोक-स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित हैं जिसके प्रकाश में हम आगे और पीछे दोनों ओर बहुत दूर तक देख सकते हैं। इस युग की आलोचना को "शुक्ल-युगीन आलोचना" के रूप में देखा-समझा जाता है।

आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि यद्यपि द्विवेदी-युग में विस्तृत समालोचना का मार्ग प्रशस्त हो गया था, किंतु वह आलोचना भाषा के गुण-दोष विवेचन, रस, अलंकार आदि की समीचीनता आदि बहिरंग बातों तक ही सीमित थी। उसमें स्थायी साहित्य में परिगणित होने वाली समालोचना, जिसमें किसी कवि की अन्तर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाई जाती हैं, बहुत ही कम दिखाई पड़ी। समालोचना की यह कमी शुक्लयुगीन हिंदी आलोचना, विशेषतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की व्यावहारिक आलोचना से दूर हुई। इस युग में आलोचकों का ध्यान गुण-दोष कथन से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अंतःवृत्ति की छानबीन की ओर गया। इस प्रकार की समीक्षा का आदर्श शुक्ल जी की सूर, जायसी और तुलसी संबंधी समीक्षाओं में देखा जा सकता है। इन समीक्षाओं में शुक्ल जी के गंभीर अध्ययन, वस्तुनिष्ठ विवेचन, मारग्राहिणी दृष्टि, संवेदनशील हृदय और प्रखर बौद्धिकता का सामंजस्य, प्राचीनता और नवीनता के समुचित समन्वय से प्राप्त प्रगतिशील विचारधारा, रसवादी, नीतिवादी,

मर्यादावादी और लोकवादी दृष्टि का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है। इन सबके चलते शुक्ल जी ने हिंदी आलोचना में अपना विशिष्ट व्यक्तित्व स्थापित किया और वे एक ऐसे आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हुए जिसमें सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा का उत्कृष्ट रूप दिखाई पड़ता है। हिंदी में ही नहीं, आधुनिक काल की समूची भारतीय आलोचना-परम्परा में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का विशिष्ट स्थान और महत्व है।

शुक्ल जी ने सूर, तुलसी, जायसी आदि मध्यकालीन कवियों और छायावादी काव्यधारा का गंभीर मूल्यांकन करके जहाँ व्यावहारिक आलोचना का आदर्श प्रस्तुत किया और हिंदी आलोचना को उन्नति के शिखर तक पहुँचाया, वहीं "चिंतामणि" और "रसमीमांसा" जैसे ग्रंथों से सैद्धांतिक आलोचना को नई गरिमा और ऊँचाई प्रदान की। "कविता क्या है", "काव्य में रहस्यवाद", 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप' आदि निबंधों में शुक्ल जी ने अपनी काव्यशास्त्रीय मेधा और स्वतंत्र चिंतन-शक्ति के साथ-साथ भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र के विशद् एवं गंभीर ज्ञान तथा व्यापक लोकानुभव और गहरी लोकसंस्कृति का जो परिचय दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्य शुक्ल ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में जिस तरह के सूत्रात्मक निष्कर्ष और आलोचना के नए मानदंड प्रस्तुत किए हैं, वे उनकी समीक्षा-शक्ति और साहित्य में गहरी पैठ के प्रमाण हैं। उनकी शास्त्रीय समीक्षा में उनका पाण्डित्य, मौलिकता और सूक्ष्म पर्यवेक्षण पग-पग पर दिखाई पड़ता है। हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना को परिचय और सामान्य विवेचन के धरातल से उठाकर गंभीर मूल्यांकन और व्यावहारिक सिद्धांत प्रतिपादन की उच्चभूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। सूर, तुलसी, जायसी संबंधी उनकी आलोचनाएँ व्यावहारिक आलोचना का प्रतिमान बनी हुई हैं। आचार्य शुक्ल लोकवादी समीक्षक हैं। लोकमंगल, लोक धर्म, लोक मर्यादा आदि को केंद्र में रखकर ही वे साहित्य की श्रेष्ठता और उत्कृष्टता का निदर्शन करते हैं।

22.2.5 शुक्ल युगीन अन्य आलोचना

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साथ-साथ हिंदी आलोचना को समर्थ और गतिशील बनाने वाले आलोचकों में पं. कृष्णशंकर शुक्ल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, गुलाब राय, लक्ष्मीनारायण "सुधांशु" के नाम उल्लेखनीय हैं। कृष्णशंकर ने "केशव की काव्यकला" और "कविवर रत्नाकर" नामक कृतियों में केशवदास और जगन्नाथ दास "रत्नाकर" की जीवनी और उनके काव्य के विभिन्न पक्षों पर सहृदयतापूर्वक प्रकाश डाला है। इन दोनों पुस्तकों की प्रशंसा करते हुए आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रंथ में लिखा - "केशव की काव्यकला" में पंडित कृष्णशंकर शुक्ल ने अच्छा विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान भी किया है। उनका "कविवर रत्नाकर" भी कवि की विशेषताओं को मार्मिक ढंग से सामने रखता है। कृष्णशंकर शुक्ल ने आचार्य शुक्ल की केशवदास संबंधी स्थापनाओं का मुखर विरोध न करते हुए भी केशवदास की सहृदयता और काव्यकला की जिस रूप में मीमांसा और समीक्षा की है, वह सारगर्भित और महत्वपूर्ण है। **"केशवदास की काव्यकला"** में उनकी तत्वान्वेषिणी दृष्टि और पुष्ट एवं गंभीर शैली के दर्शन होते है। इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी "हिंदी साहित्य का अतीत" और " बिहारी की वाग्विभूति" जैसे ग्रंथों में उत्कृष्ट आलोचना-प्रतिभा का परिचय दिया है। इन्होंने रीतिकाल के महत्वपूर्ण कवियों, बिहारी, केशव, घनानंद, भूषण, रसखान आदि की विस्तृत समीक्षा करके अपनी सिद्धांतनिष्ठ, अनुसंधानपरक और सारग्राही आलोचना-पद्धति से हिंदी आलोचना को काफी शक्ति प्रदान की है। उनकी रीतिकाव्य की व्याख्याएँ और टीकाएँ भी आलोचना के बड़े काम की हैं। **लक्ष्मीनारायण सुधांशु** ने "काव्य में अभिव्यंजनावाद" में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और उसके प्रकाश में भारतीय काव्यशास्त्र और हिंदी के नवीन काव्य पर विचार करते हुए अपनी सहृदयता, विद्वत्ता और मर्मग्राहिता का परिचय दिया है। **बाबू गुलाबराय** ने "सिद्धांत और अध्ययन", "काव्य के रूप" और "नवरस" जैसे ग्रंथों के माध्यम से हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना को पुष्ट किया। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की ही तरह भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के समन्वय से नवीन आलोचना-सिद्धांतों को विकसित करने का कार्य किया। गुलाबराय ने स्वयं लिखा है - "सिद्धांत और अध्ययन" और "काव्य के रूप" में परिभाषाएँ देने में मैंने देशी-विदेशी विद्वानों के मतों का समन्वय करके ही अपनी परिभाषाएँ दी हैं"। पाश्चात्य एवं भारतीय काव्यशास्त्रों की मान्यताओं का गंभीर अध्ययन-विश्लेषण करके अपनी समन्वय बुद्धि द्वारा आचार्य शुक्ल ने भी हिंदी के एक नए आलोचना-शास्त्र के निर्माण का कार्य किया। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र का यह कथन

उद्धरणीय है - "शुक्लजी ने संस्कृत काव्यशास्त्र का पुनराख्यान कर और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धांतों को अपने अनुरूप ढालकर हिंदी के लिए एक नए आलोचना-शास्त्र का निर्माण किया।" शुक्लानुवर्ती आलोचकों ने उनके इस कार्य में योग दिया, यह दूसरी बात है कि वे आचार्य शुक्ल की सी गहराई, व्यापकता और ऊँचाई का परिचय नहीं दे सके, फिर भी उनके योगदान को कम करके नहीं आँका जा सकता है।

22.3 शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना के केंद्र में वीरगाथा काल से लेकर छायावादी काव्यधारा तक का साहित्य रहा है। उनके समीक्षा-सिद्धांत और काव्य के प्रतिमान विशेष रूप से भक्तिकाव्य के आधार पर निर्मित हुए हैं। जिस समय शुक्ल जी का आलोचक व्यक्तित्व अपने पूरे निखार पर था। उसी समय व्यक्तिचेतना को केंद्र में रखकर छायावादी काव्यधारा का विकास हुआ जिसकी आचार्य शुक्ल ने कड़ी आलोचना की। रसवादी, परम्परानिष्ठ, लोकमंगलवादी और मर्यादावादी आचार्य शुक्ल व्यक्ति के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा, प्रेम-विरह और मानवीय सौंदर्य के आकर्षण से परिपूर्ण छायावादी कविता को अपेक्षित सहृदयता से न देख-समझ सके। फलस्वरूप छायावादी कवियों को अपने पक्ष की प्रस्तुति के लिए आलोचनात्मक विवेक के साथ सामने आना पड़ा। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा ने छायावाद नाम की अभिनव काव्य-प्रवृत्ति की विशेषताओं और उसकी आवश्यकताओं को अपनी पुस्तकों की भूमिकाओं और स्फुट आलोचनाओं में रेखांकित किया और शुक्ल जी की इस धारणा का विरोध किया कि छायावादी कविता विदेशी कविता (अंग्रेजी कविता) की नकल और अभिव्यंजना की नूतन प्रणाली मात्र है। प्रसाद ने छायावाद को भारतीय परंपरा से संबद्ध सिद्ध किया, पंत और महादेवी वर्मा ने उसे युग की आवश्यकता और मनुष्य के अंतर्मन की अदम्य अभिव्यक्ति के रूप में रेखांकित किया। छायावादी कवियों की मान्यताओं और स्थापनाओं के स्पष्ट रूप सामने आ जाने पर परवर्ती आलोचकों को इस काव्यधारा को समझने में आसानी हुई और इसे नन्ददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी और डॉ. नगेंद्र जैसे समर्थ आलोचकों का बल प्राप्त हुआ। इन आलोचकों ने आचार्य शुक्ल की आलोचना-परम्परा का विकास करते हुए अनेक संदर्भों में अपनी स्वतंत्र दृष्टि और मौलिकता का परिचय दिया है। शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना का विकास कई रूपों में हुआ। यहाँ पर आचार्य शुक्ल के बाद से स्वतंत्रता प्राप्ति तक की हिंदी आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों एवं पद्धतियों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

आचार्य शुक्ल के बाद हिंदी में स्वच्छन्दतावादी, प्रभाववादी, मनोवैज्ञानिक या अन्तश्चेतनावादी, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक, शास्त्रीय या सैद्धांतिक आलोचना, अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना और मार्क्सवादी आलोचना का विकास हुआ। इनका स्वतंत्र रूप से परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

22.3.1 स्वच्छन्दतावादी आलोचना

स्वच्छन्दतावादी आलोचना का विकास हिंदी की छायावादी काव्यधारा के मूल्यांकन के साथ हुआ। पुराने आचार्यों ने छायावादी काव्य की नवीन चेतना को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा और न उसका ठीक से मूल्यांकन किया। छायावादी कवियों ने अपने काव्य के समुचित मूल्यांकन के लिए जहाँ अपने काव्य-सिद्धांतों और मान्यताओं को स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया, वहीं नए आलोचकों को प्रेरित एवं प्रभावित करके छायावादी या स्वच्छन्दतावादी काव्यालोचना का मार्ग प्रशस्त किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यापक प्रभाव के बावजूद भी आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावाद को अपना समर्थन दिया और इस काव्यधारा के सौंदर्य को प्रभावशाली ढंग से उद्घाटित किया। उन्होंने छायावादी कवियों के स्वर में अपना स्वर मिलाते हुए साहित्य की स्वायत्त सत्ता की घोषणा की और कहा - "काव्य का महत्व तो काव्य के अंतर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तु में नहीं। काव्य और साहित्य की स्वतंत्र सत्ता है, उसकी स्वतंत्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतंत्र साधन हैं।" अपनी इस धारणा के तहत उन्होंने छायावादी काव्य का मूल्यांकन किया। उन्होंने बड़ी दृढ़ता से स्पष्ट किया कि छायावाद का अपना जीवन-दर्शन है, अपनी भाव सम्पत्ति है, वह द्विवेदीकालीन कविता की परिपाटीबद्धता, नीतिमत्ता और स्थूलता के विरुद्ध नवोन्मेष अनुभूति-प्रवण कविता है। उसमें अनुभूति, दर्शन और शैली का अद्भुत सामंजस्य है। वह राष्ट्रीय चेतना के स्वर से परिपूर्ण है, उसका भी अपना आध्यात्मिक पक्ष है। वाजपेयी जी की इन स्थापनाओं से

छायावाद-संबंधी अनेक भ्रमों का निराकरण हुआ और इस काव्यधारा के स्वस्थ मूल्यांकन की परंपरा चल पड़ी। वाजपेयी जी की इस आलोचना को, स्वच्छन्दता को चरम मूल्य मानने के कारण "स्वच्छन्दतावादी' और काव्य-सौष्ठव पर बल देने के कारण 'सौष्ठववादी' संज्ञा मिली। **नन्ददुलारे वाजपेयी** ने 'आधुनिक साहित्य', नया साहित्य : नए प्रश्न', 'जयशंकर प्रसाद', 'कवि निराला', 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' आदि जैसे आलोचनात्मक ग्रंथों में छायावाद, स्वच्छन्दतावाद और छायावादी कवियों - पंत, निराला, प्रसाद - का मूल्यांकन प्रस्तुत किया और इस नवीन काव्यधारा के संदर्भ में नए समीक्षा-सिद्धांतों का निर्माण किया।

वाजपेयी जी के साथ ही डॉ. नगेन्द्र ने छायावादी काव्य का जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया, वह भी हिंदी की स्वच्छन्दतावादी आलोचना को परिपुष्ट करने वाला है। 'आधुनिक हिंदी कविता की प्रवृत्तियाँ' और 'सुमित्रानंदन पंत' जैसे ग्रंथों से उन्हें छायावादी आलोचक के रूप में ख्याति मिली। उन्होंने काव्य में आत्माभिव्यक्ति को महत्वपूर्ण माना और छायावाद को 'स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह' कहा। उन्होंने यह स्थापित किया कि भक्ति आंदोलन के बाद हिंदी साहित्य में छायावाद एक बड़ा काव्यान्दोलन था। पंत के काव्य का मूल्यांकन करके डॉ. नगेन्द्र ने जहाँ उनके काव्य को समझने की दृष्टि दी, वहीं उनकी कविता से ही अपनी आलोचना के मूल्य भी निकाले। डॉ. नगेन्द्र यद्यपि रसवादी समीक्षक हैं किंतु उनकी आलोचना-दृष्टि नए साहित्य के संपर्क से बराबर विकसित होती रही। रस-सिद्धांत की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के साथ-साथ डॉ. नगेन्द्र ने काव्य भाषा, काव्य बिम्ब, शैली विज्ञान आदि पर भी जो कार्य किया है वह हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना को समृद्ध करने वाला है। उनकी व्यावहारिक समीक्षाएँ भी काफी मूल्यवान हैं।

22.3.2 प्रभाववादी या प्रभावाभिव्यंजक आलोचक

इस समीक्षा-पद्धति में सहृदय आलोचक काव्य-कृति को पढ़कर अपने मन पर पड़े प्रभावों को मार्मिक ढंग से व्यक्त करके दूसरों तक पहुँचाता है। उसकी आलोचना भी एक नयी रचना का-सा आनंद देने लगती है। कभी-कभी आलोचना रचना के मूल विषय से बहुत दूर भी चली जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे अच्छी आलोचना नहीं माना है। हिंदी में **प्रभाववादी समीक्षा** का प्रथम आभास तो **पद्मसिंह शर्मा** के बिहारी संबंधी मूल्यांकन में मिला था, किंतु इसका पूर्ण स्फुरण **शांतिप्रिय द्विवेदी** की आलोचना में हुआ। उन्होंने छायावादी काव्य की आलोचना किसी सिद्धांत से बँधकर नहीं, उसके स्वतंत्र आस्वादन के आधार पर की है और छायावादी काव्य में, विशेषत: पंत के काव्य में अच्छाइयों का ही भावपूर्ण दर्शन किया है। वे जब पंत की सराहना करने लगते हैं तो भावविह्वल हो जाते हैं और ऐसे अवसरों पर उनका गद्य गद्य-काव्य हो जाता है। उनकी पंत-संबंधी आलोचना कुछ इस तरह की है मानो उसे स्वयं पंत ने ही लिखा हो। **डॉ. नगेन्द्र** की भी छायावाद संबंधी समीक्षा में प्रभावाभिव्यंजकता है, किंतु उसमें संतुलन एवं वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के कारण भावातिरेक की मात्रा बहुत कम हो गई है। वैसे प्रभावाभिव्यंजक आलोचना के इस गुण को महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए कि आलोचना के लिए रचना का सहृदयतापूर्ण अवगाहन जरूरी है। इसके बिना रचना का सही मूल्यांकन संभव नहीं हो सकता। इस आलोचना-पद्धति का हिंदी में अधिक विकास नहीं हुआ।

22.3.3 मनोवैज्ञानिक या अन्तश्चेतनावादी आलोचना

मनोविश्लेषणवादी आलोचना का संबंध फ्रायड के अन्तश्चेतनावादी कला-सिद्धांत से है जो यह मानता है कि साहित्य और कलाएँ मनुष्य की दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति हैं। उसका मानना है कि मनुष्य की दमित वासनाओं का उदात्तीकृत रूप ही साहित्य या कला में व्यक्त होता है। दमित वासनाएँ काममूला होती हैं। मनोवैज्ञानिक आलोचक कवि के व्यक्तिगत जीवन के आधार पर उसकी वासनाओं का विश्लेषण करता है और उसके साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति को रेखांकित करता है। मनोविश्लेषणवादी साहित्य-दृष्टि के अनुसार साहित्य-निर्माण की प्रेरणा मनुष्य की चेतना से नहीं, अवचेतन में दमित वासनाओं (कामवासनाओं, हीनता की क्षतिपूर्ति की वासनाओं, जीने की वासनाओं) में मिलती है। चूँकि ये वासनाएँ प्रवृत्तिमूलक और वैयक्तिक होती हैं, अत: यह माना जाता है कि साहित्य का संबंध व्यक्ति-चेतना से अधिक है, सामाजिक चेतना से नहीं अत: साहित्य सामाजिक होने की अपेक्षा व्यक्तिगत होता है। इस तरह कला मूलत: स्वान्त: सुखाय होती है। मनोविश्लेषणवादी, नैतिकता के प्रश्न को भी महत्व नहीं देता। वह मानता

है कि व्यक्ति जैसा है, वही उसका वास्तविक रूप है और उसे उसी रूप में साहित्य में चित्रित होना चाहिए। उसे आदर्श, नैतिकता के आवरण में डालकर प्रस्तुत करना बेमानी है। यही वजह है कि मनोविश्लेषणवादी, चरित्रों के अंत: सत्य पर विशेष बल देता है और पात्र की अच्छाई-बुराई को उसी से जोड़कर देखता है। वह आदर्श चरित्रों की अपेक्षा यथार्थ चरित्रों की सृष्टि में विश्वास रखता है। ऐसी स्थिति में यदि उसके पात्र मनोरोगी, दीन-हीन, दुर्बल, अनैतिक और दुश्चरित्र हों तो वह इसे यथार्थ की उपज मानता है, अपनी कला की कमजोरी या विकृति नहीं। मनोविश्लेषणवादी कला में नवीन प्रयोगों को मन्यता प्रदान करता है। उसकी धारणा है कि ज्यों-ज्यों समाज विकसित होगा, जीवन-स्थितियों में परिवर्तन होगा, उसके सनातन अवचेतन और चेतन में संघर्ष बढ़ता जाएगा और मानव-चरित्र की संश्लिष्टता और जटिलता बढ़ती जाएगी। उस संश्लिष्टता और जटिलता की अभिव्यक्ति के लिए नवीन प्रतीकों, संकेतों, भाषिक क्षमताओं को विकसित करना होगा। इन अवधारणाओं के मद्देनजर **इलाचन्द्र जोशी** ने साहित्य-रचना और समीक्षा का उल्लेखनीय कार्य किया है। उन्होंने 'साहित्य-सर्जना' नामक पुस्तक से अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की स्थापना की और 'विवेचना', 'विश्लेषण', 'देखा-परखा' जैसी कृतियों में मनोवैज्ञानिक आलोचना का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया। 'भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता', 'महादेवी जी का आलोचना-साहित्य', 'छायावादी तथा प्रगतिपंथी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण', 'कामायनी', 'शरतचन्द्र की प्रतिभा', आदि निबंधों में उनकी मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-दृष्टि व्यावहारिक रूप से प्रकट हुई है। **इलाचन्द्र जोशी** का मानना है कि हिंदी का भक्ति साहित्य दमित काम-कुंठा का ही प्रतीक है। छायावादी काव्य में भी उन्हें यौन-संबंधों की कुंठाएँ शालीन रूप में अभिव्यक्त हुई दिखाई पड़ती हैं।

अज्ञेय, डॉ. नगेन्द्र और डॉ. देवराज की भी समीक्षाओं में मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। **अज्ञेय** के 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद', डॉ **नगेन्द्र** के रस-सिद्धांत के विश्लेषण और पंत-काव्य के मूल्यांकन तथा **डॉ. देवराज** के 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' नामक ग्रंथों में मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-दृष्टि का व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक रूप देखा जा सकता है।

22.3.4 ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' नामक पुस्तक में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया कि किसी ग्रंथकार का स्थान निर्धारित करने के लिए क्रमागत सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय सातत्य को देखना आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है कि आलोचक को अपनी जातीय परंपरा या सांस्कृतिक विरासत का बोध हो। आचार्य द्विवेदी ने अपनी इस धारणा के तहत 'हिंदी साहित्य की भूमिका', हिंदी साहित्य का आदिकाल' और 'कबीर' जैसे आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना की। उन्होंने हिंदी साहित्य को ठीक से समझने के लिए पूर्ववर्ती साहित्य-परम्पराओं (संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश) की जानकारी को आवश्यक माना और उनके साथ हिंदी-साहित्य के घनिष्ठ संबंध को रेखांकित किया। उन्होंने 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप', 'भारत के प्राचीन कला - विनोद', 'कालिदास की लालित्य योजना' जैसी कृतियों के माध्यम से ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोचना को परिपुष्ट किया। उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोचना किसी कृति का मूल्यांकन इतिहास और संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में करती है। ऐतिहासिक आलोचक के अनुसार मानव-समुदाय की चेतना देश-काल के अनुसार परिवर्तित होते हुए भी परंपरा से बँधी होती है। इसी तरह सांस्कृतिक आलोचना भी रचना में सांस्कृतिक तत्वों की छानबीन करती है और उसके सांस्कृतिक महत्व और अवदान को रेखांकित करती है। द्विवेदी जी ने अपने समीक्षात्मक ग्रंथों में ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोचना का आदर्श रूप प्रस्तुत किया है।

ऐतिहासिक समीक्षा के उदाहरण पं. विश्वनाथ मिश्र और आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के ग्रंथों में मिलते हैं। आचार्य मिश्र ने 'भूषण ग्रंथावली' और परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परंपरा' में ऐतिहासिक विवेचना एवं मूल्यांकन को चरितार्थ किया है। इसके अलावा हिंदी के अनेक शोधकर्ताओं ने हिंदी साहित्य के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययनों से ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोचना को समृद्ध करने का प्रयास किया किंतु अधिकांश शोध-प्रबंधों में ऐतिहासिक-सांस्कृतिक तत्वों और तथ्यों का स्थूल विवेचन ही हुआ है, उन्हें रचना की आंतरिक संगति, बुनावट और अर्थवत्ता से जोड़कर बहुत कम देखा-परखा गया है।

22.3.5 शास्त्रीय समीक्षा

द्विवेदीयुग में हिंदी में शास्त्रीय अथवा सैद्धांतिक समीक्षा का विकास दो रूपों में हुआ। कुछ आलोचकों ने रीतिकालीन लक्षण-ग्रंथों की परम्परा में विवेचनापूर्ण लक्षण-ग्रंथों की रचना की और कुछ ने संस्कृत एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का समन्वय करके नए सिद्धांत-ग्रंथों का निर्माण किया। आचार्य शुक्ल के बाद नवीन लक्षण ग्रंथों की रचना तो नहीं हुई, किंतु भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धांत-ग्रंथों के अनुवाद और उनके आधार पर नए सिद्धांतों की स्थापना का कार्य अवश्य हुआ। 'काव्यादर्श' (दंडी), 'काव्यालंकार सूत्र' (वामन), 'ध्वन्यालोक' (आनंदवर्धन), 'वक्रोक्ति जीवितम्' (कुन्तक), 'काव्य प्रकाश' (मम्मट) आदि के साथ-साथ अरस्तू के 'पोयटिक्स', लांजाइनस के 'ऑन द सब्लाइम' और होरेस के 'आर्स पोएटिका' के अनुवादों ने हिंदी की शास्त्रीय समीक्षा को समृद्ध किया और हिंदी आलोचकों को भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-दृष्टियों के समन्वय से नई साहित्य-दृष्टि के निर्माण में सहयोग प्रदान किया। इस समन्वित दृष्टि से लिखे गए ग्रंथों में **रामकुमार वर्मा** का 'साहित्यशास्त्र', **भगीरथ मिश्र** का 'काव्यशास्त्र', **सीताराम चतुर्वेदी** का 'समीक्षाशास्त्र', **नन्ददुलारे वाजपेयी** का 'नया साहित्य, नए प्रश्न' आदि हैं। कतिपय ग्रंथों में पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों का भी स्वतंत्र रूप से विवेचन किया गया है जैसे 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत' (लीलाधर गुप्त), 'रोमांटिक साहित्यशास्त्र' (देवराज उपाध्याय), 'पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिंदी पर उसका प्रभाव' (रवीन्द्र सहाय वर्मा), 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' (डॉ. केशरीनारायण शुक्ल)। इन ग्रंथों के विषय में डॉ. रामचंद्र तिवारी का यह निष्कर्ष सही है कि "यह सब कुछ होने पर भी काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का जैसा गंभीर, तात्विक, मर्मग्राही एवं संश्लिष्ट विवेचन आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया है, उसका अभाव बना हुआ है। उपर्युक्त ग्रंथों में मात्र सामग्री उपस्थित की गई है, तत्व का विवेचन नहीं किया गया है।"

22.3.6 अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में इस आलोचना-पद्धति की शुरुआत हुई थी किंतु बाद में विश्वविद्यालयों में हिंदी विभागों की स्थापना और शोध-कार्यों के प्रश्रय के कारण विपुल संख्या में शोध-ग्रंथों का जो लेखन-प्रकाशन हुआ, उससे हिंदी में अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना काफी समृद्ध हुई। डॉ. **पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल** के शोध प्रबंध 'निर्गुण सम्प्रदाय' के बाद **'हिंदी काव्यशास्त्र का विकास'** (रमाशंकर शुक्ल रसाल), **'तुलसी दर्शन'** (बलदेव प्रसाद मिश्र), **'तुलसीदास'** (माताप्रसाद गुप्त), **'आधुनिक हिंदी साहित्य'** (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), **'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास'** (श्रीकृष्ण लाल), **'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन'** (जगन्नाथ प्रसाद शर्मा), **'अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय'** (दीनदयाल गुप्त), **'रामकथा : उत्पत्ति और विकास'** (कामिल बुल्के) आदि सैंकड़ों शोध-ग्रंथों ने इस आलोचना पद्धति को समृद्ध किया है और अनुसंधान की नई-नई दिशाओं, प्रवृत्तियों और दृष्टियों को विकसित किया है। इसी से हिंदी की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक आदि विभिन्न आलोचना-पद्धतियाँ भी समृद्ध हुई हैं। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि शोध-प्रबंधों का जो विपुल भंडार तैयार हुआ है उसमें सभी उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि अब दिनों दिन शोध प्रबंधों का स्तर गिरता जा रहा है। जहाँ यह आलोचना-पद्धति अध्ययन, अन्वेषण, मूल्यांकन आदि की दृष्टि से गंभीर, अधिक वस्तुनिष्ठ तथा प्रामाणिक है, वहीं अब इसका जो स्वरूप सामने आ रहा है, वह चिंता का विषय है। जैसे-तैसे शोध-प्रबंधों का लिखा जाना, परिचय-संपर्कों के आधार पर उनका स्वीकृत होना और डिग्री प्राप्त हो जाने के बाद उन प्रबंधों का अता-पता न रहना आदि बातें यह दर्शाती हैं कि हिंदी शोध की स्थिति उत्तरोत्तर बदतर होती जा रही है और उसमें से आलोचना और मूल्यांकन की गंभीरता गायब होती जा रही है।

22.3.7 प्रगतिवादी या मार्क्सवादी आलोचना

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिंदी आलोचकों का जब एक वर्ग छायावाद की प्रतिष्ठा में संलग्न था, उसी समय पंत जैसे छायावादी कवि युगान्त की घोषणा करके नए युग का आह्वान करने लगे थे और आकाश में उड़ते हुए छायावाद के कल्पना-विहग को दाने के लिए धरती पर आने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। इसी समय (1936 ई.) 'प्रगतिशील लेखक संघ' का प्रथम अधिवेशन हुआ जिसमें प्रेमचंद ने अपने अध्यक्षीय भाषण में साहित्य के नए उद्देश्यों और सौंदर्य की नई कसौटियों और दृष्टियों पर विस्तृत प्रकाश डाला। इसी के साथ हिंदी में प्रगतिशील लेखन और मूल्यांकन का दौर शुरू हुआ। प्रगतिशील आंदोलन का वैचारिक आधार मार्क्सवादी दर्शन रहा है जो वस्तुजगत को ही चरम सत्य मानता है और विकास की

द्वंद्वात्मक प्रणाली में विश्वास करता है। मार्क्सवादी की मान्यता है कि मानव-चेतना का नियमन सामाजिक परिस्थितियाँ करती हैं और कला चेतना मानव चेतना का ही उदात्त रूप है, इसलिए प्रत्येक युग का कलाकार जाने-अनजाने उस वर्ग विशेष का ही प्रतिनिधित्व करता है जिसमें वह पला होता है। यह दुनिया दो वर्गों में विभक्त हैं- एक शोषक वर्ग है, दूसरा शोषित। शोषक वर्ग का पूँजी पर एकाधिपत्य है और शोषित वर्ग अपने अथक श्रम के बावजूद हर तरह से दीन-हीन और विपन्न है। यही सर्वहारा वर्ग है। मार्क्सवाद मानता है कि पूँजीवाद को मिटाने और साम्यवाद की स्थापना का धर्म है कि वह अपनी रचना के माध्यम से सर्वहारा के स्वाभिमान को जागृत करे और उसे अपने हक की लड़ाई के लिए तैयार करे। इस धारणा के तहत जो रचनाएँ होती हैं उन्हें मार्क्सवादी या प्रगतिवादी साहित्य कहते हैं और रचना में उपर्युक्त विशेषताओं की खोजबीन करने वाली आलोचना को मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना कहा जाता है।

मार्क्सवादी-विचार-दर्शन से अनुप्राणित होकर आरंभ में जिन आलोचकों ने मार्क्सवादी आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया, उनमें शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त और रामविलास शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। **शिवदान सिंह चौहान** ने 'प्रगतिवाद', 'साहित्य की परख', 'आलोचना के मान', 'साहित्य की समस्याएँ' और 'साहित्यानुशीलन', **प्रकाशचन्द्र गुप्त** ने ' हिंदी साहित्य', 'आधुनिक हिंदी साहित्य' और 'हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा' तथा **रामविलास शर्मा** ने 'प्रगति और परंपरा', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', 'आस्था और सौंदर्य' जैसे आलोचनात्मक ग्रंथों से हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा का स्वरूप विकसित किया। इन आलोचकों ने रचना की सामाजिक उपयोगिता और महत्ता पर प्रकाश डाला और उन्हीं रचनाओं को श्रेष्ठ माना जिनमें जनकल्याण की भावना निहित रही और सामाजिक परिवर्तन में जिनकी क्रांतिकारी चेतना अहम् भूमिका निभाती है। रामविलास शर्मा ने आचार्य शुक्ल की लोकमंगल की भावना को प्रगतिशील साहित्यालोचन के केंद्र में रखकर जिस तरह परम्परा का मूल्यांकन किया है, वह हिंदी की प्रगतिशील आलोचना का श्रेष्ठ उदाहरण है। आगे चलकर हिंदी में मार्क्सवादी समीक्षा का काफी विकास हुआ। इसकी विस्तृत चर्चा स्वात्रंत्र्योत्तर हिंदी आलोचना के अंतर्गत की जाएगी।

22.4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिंदी के सर्जनात्मक साहित्य में जिस तरह का परिवर्तन उपस्थित हुआ, उसके मूल्यांकन के लिए मान-मूल्यों की भी आवश्यकता पड़ी इसके फलस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-आलोचना का अनेकायामी विकास हुआ। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद पहले से चली आती हुई मार्क्सवादी आलोचना का अधिक विकास हुआ। **रामविलास शर्मा** का अधिकांश आलोचना-साहित्य स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही प्रकाशित हुआ। उन्होंने आलोचक प्रवर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, उपन्यास सम्राट प्रेमचंद और क्रांतिकारी कवि निराला की विस्तृत समीक्षा लिखकर जहाँ अपने मार्क्सवादी एवं प्रगतिवादी आलोचना-कर्म का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया, वहीं मार्क्सवादी आलोचना को हिंदी आलोचना के केंद्र में भी प्रतिष्ठित कर दिया। 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना', 'प्रेमचंद और उनका युग' तथा 'निराला की साहित्य-साधना' उनकी वे श्रेष्ठ आलोचना-पुस्तकें हैं जिनमें उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य की नई व्याख्या प्रस्तुत की है। यही नहीं अपनी 'आस्था और सौंदर्य' नामक पुस्तक में यह भी प्रमाणित किया है कि वे जड़ मार्क्सवादी समीक्षक नहीं हैं। उन्होंने 'सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास' नामक निबंध में सौंदर्य की वस्तुगत व्याख्या करते हुए भी सौंदर्य को व्यक्ति या विषय में मानने के बजाय संयुक्त रूप से दोनों में स्वीकार किया है। उन्होंने यह भी घोषणा की है कि साहित्य शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है। उन्होंने 'निराला की साहित्य-साधना, भाग-2' में निराला की विचारधारा के साथ-साथ उनकी कलात्मक सजगता और उत्कृष्टता की भी व्याख्या की है। इस तरह रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी आलोचना की निरी विचारधारात्मकता को कलात्मक विश्लेषण से जोड़कर उसे पूर्णता प्रदान करने की सार्थक कोशिश की और रचना के वस्तु और रूप को समान महत्व प्रदान किया है।

रामविलास शर्मा के साथ स्वातंत्र्योत्तर काल की प्रगतिशील हिंदी आलोचना या मार्क्सवादी हिंदी आलोचना को सशक्त बनाने वालों में **गजानन माधव मुक्तिबोध, नामवर सिंह, रांगेय राघव, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, शिवकुमार मिश्र** के नाम उल्लेखनीय हैं। मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार', 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध', 'नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' जैसे ग्रंथों से हिंदी की मार्क्सवादी

आलोचना को एक ऐसी ऊँचाई प्रदान की है जिसको छू पाना परवर्ती आलोचना के लिए मुश्किल हो रहा है। मुक्तिबोध ने छायावादी काव्य के प्रति सकारात्मक रुख अपनाया और उसकी प्रगतिशील भूमिका की सराहना भी की। उन्होंने एक सुलझे हुए मार्क्सवादी के रूप में रचना की सापेक्ष स्वायत्तता स्वीकार की और मार्क्सवादी दृष्टि से 'कामायनी' की जो समीक्षा की, वह कई दृष्टियों से विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण है। उन्होंने कामायनीवादियों की गलतफहमियों को रेखांकित किया और अपनी आलोचना द्वारा उन्हें दूर करने का कार्य भी किया। उन्होंने कामायनी को द्विअर्थक कृति न मानकर एक फैंटेसी माना और यह स्थापित किया कि कामायनी इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि उसमें मनु को देश-कालातीत, शाश्वत मानव का रूप दिया गया है बल्कि उसकी महत्ता इसमें है कि उसमें पूँजीवादी ह्रासगत सभ्यता के भीतर व्यक्ति के भीतरी विकेंद्रीकरण का प्रश्न बड़े जोर से उठाया गया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि इड़ा बुद्धिवाद की प्रतीक न होकर पूँजीवाद की प्रतिनिधि है। तात्पर्य यह है कि 'कामायनी : एक पुनर्विचार' मुक्तिबोध की मार्क्सवादी समीक्षा-दृष्टि का श्रेष्ठ उदाहरण है। मुक्तिबोध ने अपना आलोचना-कर्म व्यावहारिक आलोचना से अवश्य शुरू किया, किंतु उत्तरोत्तर वे कला-कृति की रचना-प्रक्रिया और शिल्प-संरचना, के विवेचन और विश्लेषण में तल्लीन होते गए और 'एक साहित्यिक की डायरी' एवं 'नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' जैसी पुस्तकों की रचना करके मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि और कला-सिद्धांतों की ऐसी रूपरेखा प्रस्तुत कर दी, जो फिलहाल हिंदी आलोचना में एक मानक बनी हुई है।

मुक्तिबोध के साथ ही **नामवर सिंह** ने भी हिंदी की मार्क्सवादी समीक्षा को काफी सुदृढ़ किया है। उनकी महत्वपूर्ण आलोचना-पुस्तकों में 'छायावाद', 'कविता के नये प्रतिमान', 'दूसरी परम्परा की खोज', और 'वाद-विवाद संवाद', विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों के आधार पर नामवर सिंह की मार्क्सवादी आलोचना-दृष्टि और उनकी व्यावहारिक समीक्षा का अच्छा परिचय प्राप्त किया जा सकता है। नामवर सिंह एक प्रखर समीक्षक के रूप में जाने जाते हैं। वे रसवादी समीक्षक डॉ. नगेन्द्र, मार्क्सवादी समीक्षक रामविलास शर्मा और कलावादी समीक्षक अशोक वाजपेयी से बराबर भिड़ते रहे हैं और इस भिड़न्त से ही उन्होंने अपनी आलोचना में वह धार पैदा की है जिसका उल्लेख लोग कभी-कभी 'नामवरी तेवर' के रूप में करते हैं। नामवर सिंह ने 'छायावाद' पुस्तक में छायावादी काव्यधारा की जैसी वस्तुनिष्ठ आलोचना की है वह छायावाद संबंधी समूची आलोचना में विशिष्ट और महत्वपूर्ण है। इसमें न तो छायावादी कविता की महत्ता को दिग्दर्शित करने का अतिरिक्त उत्साह है, न खोज-खोजकर खराबियाँ निकालने की हठधर्मिता। छायावादी कविता के भाव और शिल्प की जैसी विवेचना इस पुस्तक में हुई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इस पुस्तक ने आचार्य शुक्ल के छायावाद-संबंधी मूल्यांकन के साथ उठे हुए विरोध-ज्वार को एकदम ठंडा कर दिया है। किंतु 'दूसरी परंपरा की खोज' में नामवर सिंह ने आचार्य राचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को जिस तरह आमने-सामने करके अपनी प्रखर प्रगतिशीलता का परिचय दिया है उससे कई तरह के नए विवाद पैदा हो गए। दरअसल विवाद करके संवाद कायम करना नामवर सिंह की विशिष्ट शैली है। इस शैली के वे अकेले उस्ताद हैं। 'वाद-विवाद संवाद' पुस्तक उनकी इस उस्तादी का श्रेष्ठ उदाहरण है। इस पुस्तक में नामवर सिंह ने 'जनतंत्र और समालोचना', आलोचना की स्वायत्तता', 'प्रासंगिकता पर पुनश्च : प्रलय की छाया', 'आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना' जैसे निबंधों से हिंदी आलोचना को नए सरोकारों से जोड़ते हुए आने वाले खतरों से जिस तरह आगाह किया है, वह उनकी प्रखर आलोचना-दृष्टि और सचेत आलोचना-कर्म का उत्कृष्ट उदाहरण है। वाद-विवाद नामवर सिंह की प्रकृति में है और वे यह मानते हैं कि "वादे-वादे जायते तत्वबोध:।" नामवर सिंह डॉ. नगेन्द्र, विजयदेव नारायण साही, अशोक वाजपेयी, रामविलास शर्मा और राजेन्द्र यादव से बराबर वाद-विवाद करते रहे हैं। इस विवाद से हिंदी आलोचना को तेवर भी मिला है और दृष्टि भी। मार्क्सवादी आलोचना-परंपरा के अन्य आलोचकों में **रांगेय राघव** (प्रगतिशील साहित्य के मापदंड, काव्य, यथार्थ और प्रगति, काव्य के मूल विवेच्य) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये रूप-तत्व को बहुत महत्व नहीं देते हैं। इन्होंने द्वन्द्वात्मक भौकिकवाद के आलोक में भारतीय काव्यशास्त्र का भी अध्ययन किया है। ये प्रतिबद्ध मार्क्सवादी समीक्षक हैं।

स्वातंत्र्ययोत्तर काल में मार्क्सवादी आलोचना के साथ-साथ **'नयी समीक्षा'** का भी विकास हुआ। छायावादी काव्यचेतना की प्रतिक्रिया में उठी हुई प्रगतिवादी रचना और आलोचना उत्तरोत्तर विचारधारा की गिरफ्त में आती गयी और उस पर कम्युनिस्ट राजनीति का रंग भी गहराता गया। 1942-43 ई. तक यह अनुभव किया जाने लगा था कि 'छायावाद' और 'प्रगतिवाद' दोनों की सीमाओं से मुक्त होना जरूरी है। इसी समय 1943 ई. में अज्ञेय के सम्पादन में 'तारसप्तक' प्रकाशित हुआ।

जिसमें कवियों को 'राहों का अन्वेषी' कहा गया और जीवन-जगत के नए-नए क्षेत्रों को उद्घाटित करना तथा उन्हें नए भाषा-संकेतों, नए बिम्बों, नए प्रतीकों और नए उपमानों के माध्यम से नए ढंग से प्रस्तुत करने को कवि-कर्म का उद्देश्य माना गया। प्रयोगशीलता इस काव्यधारा की मूल प्रेरणा थी, इसलिए इसे प्रयोगवादी काव्यधारा कहा गया, हालाँकि बाद में अज्ञेय ने कहा कि हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही गलत है जितना कवितावादी कहना। इस सब के बावजूद प्रयोगवादी काव्यधारा का विकास हुआ। 1950 ई. के बाद नए भाव-बोध (आधुनिक बोध) वाली कविताओं को 'नयी कविता' की संज्ञा मिली।

अज्ञेय ने उपने 'तारसप्तक' के वक्तव्य में 'जीवन की जटिलता', 'स्थिति-परिवर्तन की असाधारण तीव्र गति', 'कवि की उलझी हुई संवेदना', साधारणीकरण और सम्प्रेषण की समस्या, जैसी अनेक नई बातों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और नए भावबोध से लिखी गई कविताओं के लिए नए आलोचना-प्रतिमानों की आवश्यकता पर बल दिया। इसी समय अज्ञेय ने 'तारसप्तक' में लिखा - **''नयी कविता का अपने पाठक और स्वयं के प्रति उत्तरदायित्व बढ़ गया है। यह मानकर कि शास्त्रीय आलोचकों से उसका सहानुभूतिपूर्ण तो क्या पूर्वाग्रहरहित अध्ययन भी नहीं मिला है, यह आवश्यक हो गया है कि स्वयं आलोचक तटस्थ और निर्मम भाव से उसका परीक्षण करें। दूसरे शब्दों में परिस्थिति की माँग यह है कि कविगण स्वयं एक दूसरे के आलोचक बनकर सामने आएँ।''** कवियों को आलोचना-कर्म में प्रवृत्त करने का यह आह्वान नया नहीं था। छायावादी कवियों ने भी यह कार्य किया था। यदि छायावादी कवियों ने अपनी काव्य-संबंधी मान्यताओं और धारणाओं को अच्छी तरह स्पष्ट न किया होता तो शायद उस काव्यधारा को सहानुभूतिशील आलोचकों से भी यथोचित न्याय न मिल पाता। अज्ञेय इस तथ्य से परिचित थे। उन्हें यह भी पता था कि नए भावबोध की रचनाओं को समझने में पांरपरिक दृष्टि के आलोचक से चूक हो सकती है। इसलिए उन्होंने अपनी काव्य पुस्तकों की भूमिकाओं तथा 'भवन्ती', 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद' आदि वैचारिक गद्य-कृतियों में अपनी काव्य-दृष्टि का स्पष्ट विवेचन किया और अपनी कविता के साथ ही अन्य समकालीन कवियों की भी समीक्षाएँ लिखीं। उनकी विचारधारा पर टी. एस. इलिएट के 'निर्वैयक्तिक' सिद्धांत की गहरी छाप है। वे कविता को अहं के विलयन का साधन मानते हैं। 'अनुभव की अद्वितीयता', 'वरण की स्वतंत्रता', 'व्यक्ति स्वातंत्र्य', 'संप्रेषणीयता', 'स्वाधीन चेतना', 'परंपरा और आधुनिकता', 'सर्जनात्मक क्षमता', 'जिजीविषा', 'रचना की स्वायत्तता', 'प्रयोगशीलता', 'आत्माभिव्यक्ति', 'व्यक्तित्व की अद्वितीयता', आदि पर अज्ञेय ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है और अपनी साहित्यिक समालोचना में इनको समाविष्ट किया है। इससे हिंदी को नए भावबोध को व्यक्त करने वाली नयी शब्दावली भी मिली है। अज्ञेय की समीक्षा-दृष्टि पर अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद और अंग्रेजी की नयी समीक्षा का प्रभाव है।

1954 ई. में 'नयी कविता' पत्रिका के साथ ही 'नयी कविता' की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। इसी के साथ हिंदी में **'नयी समीक्षा'** का स्वर मुखरित हुआ। 1953 ई. में ही **विजयदेवनारायण साही** नयी कविता को कुत्सित समाजशास्त्रीय व्याख्या से मुक्त करने और नए लेखकों को एक ऐसी भावभूमि पर लाने का आह्वान कर चुके थे जहाँ लेखक अपनी वैयक्तिकता को सुरक्षित रखते हुए सामाजिकता को आत्मसात कर सकते थे। स्पष्ट है कि इस समय तक हिंदी कविता की दो धाराएँ हो गई थीं - एक धारा आधुनिकतावादियों की थी और दूसरी उन यथार्थवादियों की जो मार्क्सवाद को केंद्र में रखकर दलितों-शोषितों को सभी प्रकार के शोषणों से मुक्ति दिलाने में ही साहित्य-कर्म की सार्थकता मानते थे। कविता की इन दो धाराओं के अनुसार हिंदी समीक्षा की भी दो धाराएँ स्पष्ट रूप से प्रचलित हुईं - एक आधुनिकतावादी धारा - जिसे नयी समीक्षा के रूप में जाना-पहचाना गया, दूसरी मार्क्सवादी समीक्षा जिसकी पंरपरा पहले से ही चली आ रही थी। इस समय की **नयी समीक्षा** के केंद्र में थे **अज्ञेय** और **मार्क्सवादी समीक्षा** के केन्द्र में **मुक्तिबोध**। मार्क्सवादी समीक्षा का परिचय हम पहले दे चुके हैं।

यहाँ थोड़ा रुककर आंग्ल-अमरीकी 'नयी समीक्षा' को समझ लेना जरूरी है। टी. एस. इलियट, आई ए. रिचर्ड्स, जॉन क्रो रेन्सम, एलेन टेट, राबर्ट पेन वारेन, आर. पी. ब्लेकमर, क्लीन्थ ब्रुक्स आदि ने 'नयी समीक्षा' का जो शास्त्र और दर्शन तैयार किया उसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं - (1) रचना एक पूर्ण एवं स्वायत्त भाषिक संरचना है। इसलिए भाषा के सर्जनात्मक तत्वों का विश्लेषण ही समीक्षा का मुख्य कार्य है। (2) ऐतिहासिक, सामाजशास्त्रीय, दार्शनिक एवं विश्लेषणवादी समीक्षाएँ अनावश्यक एवं अप्रसांगिक हैं। क्योंकि ये साहित्येतर प्रतिमान हैं। (3) रचना का मूल्यांकन रचना के रूप में ही करना अभीष्ट है।

(4) रचना की आंतरिक संगति और संश्लिष्ट विधान के विवेचन-विश्लेषण के लिए उसका गहन पाठ आवश्यक है। उल्लेखनीय है कि कोलम्बिया विश्वविद्यालय के तुलनात्मक साहित्य के प्रोफेसर रिपन गार्न ने 1911 ई. में 'नयी समीक्षा' (New crticism) नाम से एक शोध-पत्र लिखकर (जो 1913 ई. में प्रकाशित हुआ) क्लैसिकल, रोमैंटिक, समाजशास्त्रीय, जीवनमूलक आदि समीक्षा-पद्धतियों को अस्वीकार करते हुए यह स्थापित किया था कि समीक्षा वस्तुत: एक वैयक्तिक प्रतिक्रिया (subjective reaction) है जो जीवन्त अंतर्दृष्टि (Vivid intution) पर आधृत होती है। बाद में इस समीक्षा-पद्धति की अन्य विशेषताओं को उद्घाटित एवं स्थापित किया। रिचर्ड्स और इलियट ने यह माना कि कविता की व्याख्या कविता के रूप में ही होनी चाहिए, इतर कारणों से उसे महत्वपूर्ण मानना अन्याय है। क्लीन्थ ब्रुक्स ने भी इसी तथ्य पर बल देते हुए लिखा - 'यह बात एकदम सही है कि आधुनिक आलोचकों की वृत्ति फिर से कृति के पाठ पर ध्यान केंद्रित करने की ओर गई है अर्थात् कविता को कविता की तरह देखना न कि उसे कवि की जीवनगाथा के परिशिष्ट के रूप में अथवा उसके अध्ययन के प्रतिबिंब के रूप में या विचारों के इतिहास के उदाहरण के रूप में। इस बात पर बल देने का अर्थ स्वभावत: कृति के घनिष्ठ पाठ पर जोर देना होता है। चूँकि कविताएँ शब्दों में लिखी जाती हैं, इसलिए सावधानी से भाषा पर ही ध्यान देने पर ही इसका (समीक्षा का) बल रहता है।' **क्लीन्थ ब्रुक्स** ने भाषागत वैशिष्ट्य को विसंगति (पैराडाक्स) और विडम्बना (आइरनी) के रूप में, **एलेन टेट** ने तनाव (टेन्शन) के रूप में, **ब्लैकमर** ने टेक्स्चर और स्ट्रक्चर के द्वंद्व के रूप में उत्पन्न जेस्चर (भंगिमा) के रूप में रेखांकित किया।

हिंदी के नए समीक्षकों पर भी उपर्युक्त बातों का प्रभाव पड़ा। हिंदी के आलोचकों ने भी जटिल भावबोध और तदनुकूल जटिल कलात्मक उपादानों - शब्द-संकेतों, बिंबों, प्रतीकों, उपमानों आदि - से युक्त संश्लिष्ट काव्यभाषा वाली नयी कविता की समीक्षा के लिए एक सर्वथा भिन्न समीक्षा-दृष्टि एवं शैली की आवश्यकता का अनुभव किया जिसके फलस्वरूप हिंदी में 'नयी समीक्षा' का प्रसार हुआ। आधुनिक भावबोध को केंद्र में रखकर समीक्षा-कर्म में प्रवृत्त होने वाले समीक्षकों में अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा, विजयदेवनारायण साही, जगदीश गुप्त, मलयज, रामस्वरूप चतुर्वेदी, अशोक वाजपेयी, रमेशचन्द्र शाह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन समीक्षकों ने युगीन परिवेश में व्याप्त 'विसंगति', विडम्बना', 'असहायता', 'निरुद्देश्यता', 'एकाकीपन', 'अजनबीपन', 'ऊब', 'संत्रास', 'कुंठा' आदि का विश्लेषण करते हुए 'अनुभूति की प्रामाणिकता' और 'व्यक्तित्व की अद्वितीयता' को रेखांकित किया और 'अस्मिता के संकट' से गुजरते हुए मनुष्य की मुक्ति की आवश्यकता पर बल दिया। इसके साथ ही रचना को भाषिक सर्जना मानकर काव्य-भाषा के विश्लेषण को समीक्षा का मुख्य विषय बनाया। नयी समीक्षा की विशेषताओं को उद्घाटित एवं स्थापित करने वाली तथा इस दृष्टि से नयी कविता और कवियों की समीक्षा करने वाली रचनाओं में 'भवंती', 'आत्मनेपद', 'आलवाल', 'अद्यतन' (अज्ञेय), 'नयी कविता के प्रतिमान' (लक्ष्मीकांत वर्मा), 'हिंदी नवलेखन', 'काव्यधारा के तीन निबंध', 'भाषा और संवेदना', 'सर्जन और भाषिक संरचना', (रामस्वरूप चतुर्वेदी), 'मानवमूल्य और साहित्य' (धर्मवीर भारती), 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' (रघुवंश), नयी कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ' (गिरिजाकुमार माथुर), 'नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ' (जगदीश गुप्त), 'कविता से साक्षात्कार', 'संवाद और एकालाप' (मलयज), 'समानान्तर', 'वागर्थ', 'सबद निरंतर', (रमेशचन्द्र शाह), 'फिलहाल' (अशोक वाजपेयी) आदि उल्लेखनीय हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि हिंदी के नए समीक्षकों ने काव्य के संदर्भ में भाषा के महत्व को स्वीकार किया, उसके सर्जनात्मक तत्वों का विश्लेषण और मूल्यांकन किया, सर्जनात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट रचना की अद्वितीयता और महत्ता को सराहा, संवेदना और शिल्प की अन्विति को रेखांकित किया, वस्तु और रूप के संबंधों का विश्लेषण किया किंतु अमरीकी या पश्चिम के नए समीक्षकों की तरह रचना को उसके ऐतिहासिक संदर्भों से पूरी तरह काटकर नहीं देखा। इतना अवश्य है कि कई समीक्षकों ने कविता के सर्जनात्मक तत्वों के विश्लेषण, उनकी संश्लिष्टता और अनुभव की अद्वितीयता आदि पर विशेष बल देते हुए अपने कलावादी रुझान को अधिक मुखर रूप में व्यक्त किया।

यद्यपि नयी समीक्षा का ज्वार बड़ी जल्दी उतर गया, किंतु यह भी एक तथ्य है कि इसकी वेगवती धारा थोड़ी देर के लिए ही सही, मार्क्सवादी समीक्षकों को भी अपने प्रवाह में बहा ले गई। **मुक्तिबोध** के 'कामायनी: एक पुनर्विचार', **नामवर सिंह** के 'कविता के नये प्रतिमान' और **रामविलास शर्मा** के निराला संबंधी मूल्यांकन में इसे देखा जा सकता है। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' पुस्तक में मुक्तिबोध भी

यह मानते हैं कि रचना का कलात्मक सौंदर्य ही वह सिंहद्वार है जिससे रचना में अंत:प्रवेश किया जा सकता है, नामवर सिंह 'कविता के नए प्रतिमान' में काव्यधारा की सृजनशीलता, काव्य-बिंब, काव्यानुभूति की जटिलता और तनाव, विसंगति और विडम्बना का विस्तृत विश्लेषण करते हैं जिसको लक्ष्य करके नेमिचंद्र जैन ने लिखा है - "नामवर सिंह का विश्लेषण उस प्रवृत्ति को समर्थन देता जान पड़ता है जिसका मूल्यों से, किसी सामाजिक सार्थकता से कोई संबंध नहीं।" रामविलास शर्मा ने निराला की काव्यभाषा के सर्जनात्मक तत्वों - प्रतीक योजना, बिंब योजना, अनुप्रास-प्रेम, शब्द योजना, ध्वनि प्रवाह आदि का जो विश्लेषण किया है वह भी समीक्षा के प्रभाव और दबाव का ही परिणाम है। मार्क्सवादी कवि शमशेर की भी समीक्षाएँ और कविताएँ उनके कलावादी रुझान का पता देती हैं। तात्पर्य यह है कि नयी समीक्षा की रूपवादी प्रवृत्तियों ने वस्तुवादी मार्क्सवादियों को यह मानने के लिए मजबूर किया कि रचना का सौंदर्य वस्तु और रूप के सम्मिलित सौंदर्य में ही निहित है इसीलिए इन आलोचकों को भी रचना की सापेक्ष स्वायत्तता को स्वीकार करना पड़ा।

नयी समीक्षा का संबंध विशेष रूप से कविता से ही रहा है। कहना चाहिए कि यह कविता-केंद्रित ऐसी आलोचना-पद्धति थी जिसने कविता की स्वायत्तता और सर्जनात्मकता पर अधिक बल दिया। उपन्यास, कहानी, नाटक आदि गद्य-विधाओं के मूल्यांकन के लिए इस पद्धति का उपयोग बहुत कम हुआ।

नयी समीक्षा की संरचना-केंद्रित आलोचना-दृष्टि को और अधिक सूक्ष्म और सघन करने वाली एक और समीक्षा-पद्धति का विकास हुआ जिसे **शैली विज्ञान** कहा गया। यह भाषिक विश्लेषण की वह वैज्ञानिक पद्धति है जिसमें भाषा के सभी उपादानों - शब्द, पद, वाक्य, ध्वनि, छंद, - को अध्ययन का विषय बनाया जाता है। हिंदी में इस समीक्षा-पद्धति के पुरस्कर्ता हैं - **रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव,** जिन्होंने शैली विज्ञान का सिद्धांत भी तैयार किया और तदनुकूल व्यावहारिक शैली वैज्ञानिक समीक्षा भी लिखी। **पांडेय शशिभूषण शीतांशु** और **सुरेश कुमार** ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। **पं. विद्यानिवास मिश्र** ने शैलीविज्ञान की जगह रीति विज्ञान को प्रमुखता प्रदान की, किंतु उनके तर्कों को अधिक बल नहीं मिला।

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने शैली वैज्ञानिक समीक्षा का जो व्यावहारिक रूप केदारनाथ सिंह की कविता 'इस अनागत का करें क्या' की समीक्षा करके प्रस्तुत किया उसे डॉ. बच्चन सिंह ने कविता की शव-परीक्षा कहकर शैली-वैज्ञानिक समीक्षा की सीमाओं को भली-भाँति उजागर कर दिया। उन्होंने उस समीक्षा की समीक्षा करते हुए लिखा - "स्पष्ट है कि शैली वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर वाक्यों, उपवाक्यों, संज्ञा, सर्वनाम, पद, पद-बंध आदि के माध्यम से कविता की जो परीक्षा की गई है, वह उसकी शव-परीक्षा बन जाती है। इसमें जिस व्याकरण की सहायता ली गई है वह कविता को छोटे-छोटे खंडों में काट तो देता है पर उसे संश्लेषित नहीं कर पाता। इस व्यवच्छेदन-व्यापार से मूल्यांकन का संबंध निश्शेष हो जाता है।" दरअसल शैली वैज्ञानिक समीक्षा एक प्रकार का भाषिक विश्लेषण है जो काव्य भाषा को तार-तार करके उसके प्रयोग वैशिष्ट्य और कलात्मक बारीकी को तो प्रस्तुत कर देता है। किंतु न तो काव्यमर्म को उद्घाटित कर पाता है, न ही रचना की मूल्यवत्ता को ठीक से रेखांकित कर पाता है। यह एक तरह से नींबू-निचोड़ समीक्षा है जो रस को बाहर फेंक देती है और गूदे का विश्लेषण करके उसका सौंदर्य देखती हैं। यद्यपि रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव यह मानते रहे हैं कि 'साहित्यिक और सांस्कृतिक समग्रता की पृष्ठभूमि में रखकर कृति को एक संश्लिष्ट घटक के रूप में देखना चाहिए' किंतु न तो वे इस दृष्टि का व्यावहारिक विकास कर सके, न अन्य शैली वैज्ञानिक समीक्षक इस रास्ते पर दूर तक चल सके। फलत: जल्द ही यह आलोचना-पद्धति स्थगित हो गई। कुछ दिनों के लिए शोधकर्ताओं के लिए इसने नए विषय-क्षेत्र का भी काम किया अवश्य, किंतु जो इस तरह के शोध-प्रबंध तैयार हुए वे शैली वैज्ञानिक अध्ययन के स्थूल उदाहरण ही सिद्ध हुए।

शैली विज्ञान के साथ ही **'संरचनावाद'** का स्वर भी हिंदी समीक्षा में सुनाई पड़ा। इनका मूल स्रोत जेनेवा और पेरिस के भाषा-विज्ञान के प्रोफेसर **फर्दिनाद डि सस्यूर** का वह **भाषा सिद्धांत** है जिसके अनुसार भाषा के दो रूप माने गए हैं - एक अंतर्वैयक्तिक, दूसरा वैयक्तिक। उसके इस सिद्धांत के सहारे रोलाँ वार्थ ने 'संरचनावाद' को परिपुष्ट किया। 'संरचनावाद' रचना की संश्लिष्टता में विश्वास रखता है। इसकी मान्यता है कि रचना ध्वनि, बिंब, प्रतीक आदि का एक गुंफ है। रचना पर्त-दर-पर्त इतनी जटिल होती है

कि उसके अवयवों को विश्लेषित करके ही उसको समझा जा सकता है। संरचनावाद के लिए भी रचना शाब्दिक या भाषिक संरचना है। इसका भी झुकाव रूपवाद की ओर है। हिंदी में भी संरचनावाद का नाम सुनाई पड़ा है, कुछ चर्चाएँ हुईं हैं। लेकिन इस सिद्धांत के तहत समीक्षा-कार्य नहीं हुआ है।

'नयी समीक्षा' 'शैली विज्ञान' और संरचनावाद' के साथ ही हिंदी में **सर्जनात्मक आलोचना** की भी काफी चर्चा हुई है। समीक्षक के कार्य की सृजनशीलता की चर्चा करते हुए **मुक्तिबोध** ने लिखा है "आलोचक या समीक्षक का कार्य, वस्तुत: कलाकार या लेखक से भी अधिक तन्मयतापूर्ण और सृजनशील होता है, उसे एक साथ जीवन के वास्तविक अनुभवों के समुद्र में डूबना पड़ता है और उससे उबरना भी पड़ता है कि जिससे लहरों का पानी उसकी आँखों में न घुस पड़े''। उनकी दृष्टि में 'जीवन-सत्यों पर आधारित साहित्य-समीक्षा स्वयं एक सृजनशील कार्य है और वह न केवल लेखक को वरन् पाठक को भी जीवन-सत्यों के अपने उद्घाटनों द्वारा सहायता करती जाती है।' इसीलिए मुक्तिबोध 'आलोचना को रचना की पुनर्सृष्टि' मानते हैं। **नामवर सिंह** भी लगभग इसी तरह की बातें कहते हैं - "आलोचक जब आलोच्य कृति के संपूर्ण कथ्य को कथन-मात्र के रूप में स्वीकार करके आलोचना-कर्म में प्रवृत्त होता है तो उस पर कथ्य-कथन संबंध में प्रवेश करने की कठिन जिम्मेदारी आ जाती है। तादात्म्य के रूप में प्रस्तुत कथ्य-कथन के बीच वह एक तरह से सेंध लगाता है और अंतर्निहित तनाव की तलाश करता है। आलोचक की यह तलाश ही उसकी सृजनशीलता है।'' मुक्तिबोध यह मानते हैं कि रचना में इस प्रकार का सृजनात्मक अंत:प्रवेश उसके कलात्मक सौंदर्य के माध्यम से ही किया जा सकता है - "कलात्मक सौंदर्य तो वह सिंहद्वार है जिसमें से गुजरकर ही कृति के मर्म क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।'' अभिप्राय यह कि आलोचना भी एक रचना है और उसकी यह रचनात्मकता आलोच्य कृति में उसकी अभिव्यक्ति के उपकरणों के माध्यम से उसमें अंत: प्रवेश करके ही उपलब्ध की जा सकती है। मुक्तिबोध का कहना है कि जो आलोचक यह कार्य नहीं कर सकता है, उसकी 'साहित्यिक समीक्षा कुतिया के उस बच्चे के समान है जिसकी आँखे खुली नहीं हैं।' यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि दोनों तरह के समीक्षकों - मार्क्सवादी और रूपवादी ने सर्जनात्मक आलोचना को महत्व प्रदान किया है किंतु दोनों की तत्संबंधी अवधारणा में अंतर है। मार्क्सवादी जहाँ रचना में अंत:प्रवेश करके रचना-मर्म के उद्घाटन में आलोचना की सर्जनात्मकता की बात करता है वहाँ रूपवादी रचना के सर्जनात्मक तत्वों के विश्लेषण को सर्जनात्मक अलोचना का कार्य मानता है। इस दृष्टि-भेद को ध्यान में न रखने के कारण हिंदी में सर्जनात्मक आलोचना का स्वस्थ एवं समुचित विकास नहीं हो सका। रूपवादी समीक्षक रचना का भाषिक विश्लेषण करते हुए शैली विज्ञान की दिशा में चले गए और मार्क्सवादी उसमें अंत:प्रवेश करके अपनी विचारधारा का मर्म पाकर प्रसन्न हुए और यदि वह नहीं मिला तो खिन्न और क्रुद्ध हो गए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सर्जनात्मक आलोचना उच्च श्रेणी की आलोचना है और वह आलोचक को भी रचनाकार की श्रेणी में रख देती है तथा उसकी आलोचना को रचनात्मक समृद्धि प्रदान करती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना में भी सर्जनात्मकता के तत्व प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं। **मुक्तिबोध** की पुस्तक 'कामायनी : एक पुनर्विचार' सर्जनात्मक आलोचना का श्रेष्ठ उदाहरण है। **अशोक वाजपेयी** और **मलयज** की आलोचनाएँ भी सर्जनात्मक आलोचना की विशेषताओं से परिपूर्ण हैं।

दरअसल आलोचना का कार्य साहित्य का निर्णय अथवा व्याख्या करना नहीं है। वह स्वयं भी रचनात्मक हो सकती है यदि वह अपने में आलोच्य कृति की पुनर्रचना कर ले। यह पुनर्रचना आलोचक की रचनात्मक क्षमता पर निर्भर करती है। अत: कहा जा सकता है कि रचनात्मक प्रतिभा से संपन्न आलोचक ही सर्जनात्मक समीक्षा लिख सकता है, किंतु इसका सरलीकरण इस रूप में नहीं हो सकता कि रचनाकार ही श्रेष्ठ सर्जनात्मक आलोचक हो सकता है बावजूद इस सत्य के कि अनेक रचनाकारों ने उत्कृष्ट आलोचनाएँ भी लिखी हैं। 'प्रसाद', 'पंत', 'निराला', 'अज्ञेय', मुक्तिबोध', 'विजयदेव नारायण साही', और 'शमशेर' इस बात के उदाहरण हैं कि उनकी कविताएँ जितनी अच्छी हैं, उतनी ही अच्छी और संभावनापूर्ण उनकी समीक्षाएँ भी हैं। जिस तरह संभावनापूर्ण होकर कोई रचना अत्यधिक रचनात्मक प्रमाणित होती है, उसी तरह संभावनापूर्ण होकर कोई आलोचना भी अपनी रचनात्मकता को प्रत्यक्ष करती है। बँधे-बँधाए प्रतिमानों से रचना की व्याख्या करने या उससे प्रतिमानों को निकालने की कोशिश आलोचना को श्रेष्ठ नहीं बनाती बल्कि उसके रचनात्मक सौंदर्य को आत्मसात करके, रचना में व्यक्त अनुभव को अपने अभ्यन्तर में अनुभावन करके मुक्त मन से जो आलोचना लिखी जाती है वही

सर्जनात्मक आलोचना हो सकती है और वही यह भी सिद्ध कर सकती है कि मनुष्यों की मुक्ति की तरह जैसे रचना की मुक्ति होती है वैसी ही मुक्ति आलोचना की भी होती है। श्रेष्ठ सृजन चेतना की मुक्ति में ही संभव है, बंधन में नहीं। यही आलोचना के लिए भी सत्य है।

इधर हिंदी में **'समाजशास्त्रीय आलोचना'** का भी स्वर मुखरित हुआ है। इस आलोचना की पृष्ठभूमि तैयार करने में **श्रीराम मेहरोत्रा** कृत 'साहित्य का समाजशास्त्र', **डॉ नगेन्द्र** कृत 'साहित्य का समाजशास्त्र', **डॉ. बच्चन सिंह** कृत 'साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद' तथा **निर्मला जैन** द्वारा संपादित 'साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन' और **मैनेजर पाण्डेय** कृत 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' का विशेष योगदान है। इस आलोचना-पद्धति पर प्रकाश डालते हुए मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं - ''साहित्य का समाजशास्त्र व्यापक सामाजिक प्रक्रिया के भीतर क्रियाशील संपूर्ण साहित्य-प्रक्रिया की विभिन्न गतियों और परिणतियों की व्याख्या करते हुए साहित्य के वास्तविक सामाजिक स्वरूप की पहचान कराता है और उसमें पाठकों की दिलचस्पी जगाता है। इस तरह वह रचना और आलोचना दोनों की सामाजिक सार्थकता बढ़ाता है।'' इसके साथ ही वे यह भी लिखते हैं - ''साहित्य के समाजशास्त्र की प्रवृत्ति समतावादी है। वह साहित्य के सभी रूपों और पक्षों को समग्रता में समझने पर जोर देता है। साहित्य-प्रक्रिया के तीन मुख्य पक्ष हैं : लेखक, रचना और पाठक। साहित्य-विश्लेषण की अधिकांश दृष्टियों के केंद्र में इन तीनों में से कोई एक रहता है। साहित्य के समाजशास्त्र में इन तीनों का विवेचन होता है और इनके आपसी संबंधों का भी। उसमें गंभीर कलात्मक साहित्य के साथ लोकप्रिय साहित्य के सामाजिक संदर्भ और प्रयोजन का भी विश्लेषण होता है।'' स्पष्ट है कि साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना केवल कृति की व्याख्या नहीं कराती, वह कृति की सामाजिक अस्मिता की भी व्याख्या करती है। यह साहित्य का समाज से रिश्ता ही नहीं मानती है, उस रिश्ते और उसकी प्रक्रिया को भी ठीक से पहचानने का यत्न करती है। साहित्य का समाजशास्त्र समाज से संपूर्ण साहित्य-प्रक्रिया या एक कृति के अनेक स्तरीय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष संबंधों के विश्लेषण में मनमानीपन की जगह सुनिश्चित दृष्टि पर जोर देता है। समाजशास्त्रीय आलोचना सुनिश्चित दृष्टि की जरूरत पर जोर तो देती है लेकिन वह दृष्टि की कट्टरता का समर्थन नहीं करती।

समाजशास्त्रीय आलोचना की उपर्युक्त अवधारणा के अनुसार अभी हिंदी में कोई उपयुक्त व्यावहारिक समीक्षा प्रकाश में नहीं आई है, इतना अवश्य है कि शोध-छात्रों ने कतिपय रचनाकारों के साहित्य, (विशेषत: उपन्यास और नाटक) का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया है किंतु वह प्रथापालन जैसा ही है, अंतर्दृष्टि-सम्पन्न नहीं। समाजशास्त्रीय अनुशीलन के संदर्भ में विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इसमें साहित्य और समाज के स्थूल रिश्तों की विवेचना नहीं होती है बल्कि उस प्रक्रिया और गति का विश्लेषण प्रमुख होता है जिसके फलस्वरूप कोई रचना एक रूपाकार ग्रहण करती है। यह आलोचना यह मानती है कि जैसे अन्य सामाजिक संस्थाएँ अपने सदस्यों को दिशा-निर्देश देती हैं, उन्हें कुछ मूल्यों और आदर्शों की ओर आकृष्ट करती हैं उसी तरह साहित्य भी संस्थात्मक रूप से अपने पाठकों को प्रेरित-निर्देशित करता है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि मार्क्सवादी समीक्षा भी साहित्य और समाज के गहरे संबंध को मानकर चलती है लेकिन मैनेजर पाण्डेय का कहना है कि वह समाजशास्त्रीय अध्ययन की मीमांसावादी धारा है। इसकी दूसरी धारा अनुभववादी है जिसमें संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टियाँ सक्रिय रहती हैं। इस दृष्टि से मार्क्सवादी समीक्षा समाजशास्त्रीय आलोचना की एक धारा है और समाजशास्त्रीय आलोचना उससे अधिक व्यापक है। कहना चाहिए कि समाजशास्त्रीय आलोचना मार्क्सवादी आलोचना का अगला कदम है जो साहित्य और समाज के रिश्तों की ही व्याख्या नहीं करती, उसको प्रेरित-प्रभावित करने वाले कारकों पर भी विचार करती है। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं - ''साहित्य के समाजशास्त्र में उस पूरी प्रक्रिया को समझने की कोशिश होती है जिसमें कोई रचना साहित्यिक कृति बनती है। इस प्रक्रिया में सामाजिक संरचनाओं तथा सांस्कृतिक संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, प्रकाशन एवं वितरण की व्यवस्था का योगदान होता है, राजनीति तथा सत्ता का हस्तक्षेप होता है और आलोचना की माध्यमिकता होती है। इस प्रक्रिया के दूसरे छोर पर वह पाठक समुदाय है जिसके स्वीकार-अस्वीकार के बिना कोई लेखन अच्छा-बुरा साहित्य कहा नहीं जा सकता। सच बात तो यह है कि आज के जमाने में साहित्य बनने के लिए किसी रचना का लिखा जाना काफी नहीं है। साहित्य बनने के लिए रचना का पाठक के पास पहुँचना जरूरी है और पाठक के पास पहुँचने के पहले उसे एक लम्बी आर्थिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। इस प्रक्रिया से गुजर कर ही कोई लेखन साहित्य बनता है या बनाया जाता है। इस प्रक्रिया तक जिन लेखकों की पहुँच नहीं होती उनका लेखन भविष्य की निधि भले ही हो, लेकिन

वह वर्तमान में साहित्य नहीं हो पाता। लेखन को साहित्य बनाने वाली इस प्रक्रिया का विश्लेषण केवल साहित्य के समाजशास्त्र में होता है, किसी दूसरी आलोचना-पद्धति में नहीं।'' डॉ. पाण्डेय के इस वक्तव्य से समाजशास्त्रीय आलोचना की व्याप्ति का पता चलता है जिससे यह ज्ञात होता है कि जीवन-जगत के हर रिश्ते-नाते की छानबीन करना और साहित्य पर पड़ने वाले उसके प्रभावों को रेखांकित करना समाजशास्त्रीय आलोचना का लक्ष्य है। समाजशास्त्रीय आलोचना की यह व्याप्ति आलोचना को एकांगी होने से बचाती है और उसे पूर्णता की ओर ले जाने में सहयोग भी करती है किंतु असावधान आलोचकों द्वारा इसमें अतिव्याप्ति दोष को उत्पन्न कर देने का खतरा भी है। इस खतरे से बचकर ही यह आलोचना श्रेष्ठ हो सकती है।

22.5 हिंदी आलोचना की वर्तमान स्थिति

सामान्यतया पिछले पच्चीस-तीस वर्षों के दौरान लिखी गई आलोचना को समकालीन हिंदी आलोचना की संज्ञा दी गई है। इसी के आधार पर हिंदी आलोचना की वर्तमान स्थिति का पता लगाया जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी आलोचना का विवेचन करते हुए प्रायः आज तक की हिंदी आलोचना की प्रवृत्तियों और उपलब्धियों को रेखांकित करने की कोशिश की गई है। उन सबको ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि हिंदी की वर्तमान आलोचना में अनेक प्रवृत्तियाँ, दृष्टियाँ और पद्धतियाँ सक्रिय हैं। मुख्य रूप से मार्क्सवादी और रूपवादी प्रवृत्तियों की प्रबलता है लेकिन अत्यधिक प्रभावी और प्रसरणशील आलोचना-पद्धति के रूप में **मार्क्सवादी आलोचना** का ही विकास हो रहा है। मार्क्सवादी समीक्षकों में **रामविलास शर्मा** और **नामवर सिंह** के साथ इधर नए समीक्षकों की एक बड़ी पंक्ति तैयार हुई है। जिसमें **शिवकुमार मिश्र, धनंजय वर्मा, निर्मला जैन, नंदकिशोर नवल, शंभुनाथ, कर्णसिंह चौहान, मधुरेश, खगेन्द्र ठाकुर** आदि के नाम उल्लेखनीय है। मार्क्सवादियों में भी **जनवादियों** की एक अलग पीढ़ी तैयार हो रही है जिसकी अगली पंक्ति में **शिवकुमार मिश्र** और **मैनेजर पाण्डेय** दिखाई पड़ रहे हैं। दरअसल इस समय रचना और आलोचना को लेखक-संगठन और लघु पत्रिकाएँ अपने-अपने ढंग से निर्देशित-प्रेरित कर रही हैं और तदनुसार 'किसिम-किसिम' की आलोचना प्रकाश में आ रही है, जिसमें अपने को और अपने पक्षधरों को स्थापित और उत्साहित करने की प्रवृत्ति अधिक है और रचना का वस्तुगत मूल्यांकन गौण हो गया है। एक ही रचना एक खेमे में श्रेष्ठ और महान मानी जाती है, दूसरे खेमे में निकृष्ट और महत्वहीन। यह आलोचना-जगत में एक प्रकार की वही अराजकता है जो वर्तमान भारतीय राजनीति में आए दिन दिखाई पड़ रही है। फिर भी इस समय जो लोग गंभीर आलोचना-कर्म में लगे हुए हैं उनमें उपर्युक्त समीक्षकों के अलावा **गोपाल राय, परमानंद श्रीवास्तव, विश्वनाथ त्रिपाठी, विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पुरुषोत्तम अग्रवाल, अजय तिवारी, रेवती रमण** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। दूसरी तरफ ऐसे मताग्रही आलोचक भी हैं जो मार्क्सवादी, जनवाद और रूपवाद के नाम पर पत्र-पत्रिकाओं में अपने-अपने झंडे लहरा रहे हैं और लेखकों-पाठकों को अपने तेवर से प्रभावित-आकर्षित कर रहे हैं। उनकी समीक्षा-दृष्टि और शैली का मूल्यांकन उनके जोश के उतर जाने के बाद ही किया जा सकता है।

22.6 सारांश

इस इकाई में आपने हिंदी आलोचना के विश्लेषण और मूल्यांकन का अध्ययन किया। आपने जाना कि सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से हिंदी आलोचना का उत्तरोत्तर विकास हुआ है और नयी रचनाशीलता के साथ-साथ हिंदी आलोचना ने भी अपने में बराबर परिवर्तन भी किया है। यह रचना के समानान्तर आलोचना की वह यात्रा है जो रचना को परखने का भी कार्य करती है और रचना के दबावों के अनुरूप अपने में नयी शक्ति और सामर्थ्य का भी विकास करती है। हिंदी आलोचना की यह प्रगतिशीलता इस रूप में अधिक स्पष्टता के साथ देखी जा सकती है कि जो आलोचना आरंभ में शास्त्रनिष्ठ और सैद्धांतिक अधिक थी, वह उत्तरोत्तर उन्मुक्त होती हुई आलोचना की सर्जनात्मकता के बिंदु तक पहुँच गई। यदि आलोचना में कठमुल्लापन ही बना रहता, देशी-विदेशी संदर्भों से जुड़कर अपने को नवीन करने की प्रवृत्ति न होती, रचना में अंतःप्रवेश करके रचना-मूल्यों को टटोलने की उत्सुकता न होती तो आलोचना और रचना के बीच घनिष्ठ रिश्ता कायम न हो पाता।

हिंदी आलोचना के विकास-क्रम का अध्ययन करने से आपको यह भी स्पष्ट हो गया कि समय-समय पर अनेक समीक्षकों ने अपनी उत्कृष्ट आलोचना-प्रतिभा और साहित्य की गहरी समझ से हिंदी आलोचना को नई ऊँचाई और गरिमा प्रदान की है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ नगेन्द्र, डॉ रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, डॉ.नामवर सिंह, डॉ. बच्चन सिंह, डॉ. रघुवंश, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, अशोक वाजपेयी, मलयज, विजयदेव नारायण साही आदि ऐसे आलोचक हैं जिन्हेंने आलोचना को अपनी सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा से समृद्ध किया है और उसे जड़ या स्थिर होने से बचाया है। इनकी व्यावहारिक आलोचनाओं से हिंदी में रचनात्मक उत्कर्ष की नई दिशाएँ भी स्पष्ट हुई हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इनकी आलोचनाओं और स्थापनाओं ने रचनाओं के लिए नई चुनौतियाँ भी पेश की हैं। इससे रचना और आलोचना का वह द्वंद्वात्मक रिश्ता भी स्पष्ट हुआ है जो दोनों में गुणात्मक विकास को प्रत्यक्ष करने में सक्षम होता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी आलोचना रचना के अधिक निकट आ गई है, कहना चाहिए कि रचना और आलोचना के बीच घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ है - वह चाहे काव्यालोचना हो, कथा समीक्षा या नाट्य-समीक्षा हो। अब तक आलोचना को जो दोयम दर्जे की स्थिति प्राप्त थी, वह मुक्तिबोध आदि की आलोचनाओं से समाप्त हुई और आलोचना-कर्म भी रचना जैसा ही श्रेष्ठ कर्म माना जाने लगा। इससे आलोचक और सर्जक के बीच श्रेणियों का अंतर समाप्त हुआ। रचनाकारों के आलोचक-रूप में सामने आ जाने से आलोचक और सर्जक का जो अद्वैत कायम हुआ उससे भी हिंदी आलोचना को रचनात्मक समृद्धि प्राप्त हुई। कुल मिलाकर हिंदी आलोचना की विकास-यात्रा संतुलित, अनेकायामी और उत्कर्षपूर्ण रही है।

22.7 अभ्यास प्रश्न

1. आधुनिक हिन्दी आलोचना की आरंभिक स्थिति पर विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. प्रभाववादी आलोचना का विवेचन करते हुए उसके प्रमुख आलोचकों एवं कृतियों का उल्लेख कीजिए।
3. प्रगतिवादी या मार्क्सवादी आलोचना से आप क्या समझते हैं ? मार्क्सवादी आलोचकों तथा उनकी कृतियों के उदाहरण देते हुए उनकी रचनाओं के विषय की चर्चा कीजिए।
4. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना पर लेख लिखिए। (लगभग 300-400 शब्दों में)

इकाई 23 निबंध एवं अन्य गद्य विधाएँ

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- निबंध तथा अन्य गद्य विधाओं के विकास को समझ सकेंगे;
- निबंध तथा अन्य गद्य विधाओं का सामाजिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन कर सकेंगे; और
- निबंध तथा अन्य गद्य विधाओं के स्वरूप में आए हुए परिवर्तनों से परिचित हो सकेंगे।

23.1 प्रस्तावना

साहित्य में आधुनिक विचार और बोध के परिणामस्वरूप गद्य का प्रचलन हुआ। पारंपरिक समाज के टूटने और नए समाज के गठन के कारण नई साहित्यिक विधाओं का प्रचलन अनिवार्य था। आधुनिक समाज ने अभिव्यक्ति के उन बंधनों को तोड़ने की प्रेरणा दी जो अनुभूति की वास्तविकता के संप्रेषण में बाधा दे रहे थे। आधुनिक युग में व्यक्ति अपनी निजी भावना और निजी अनुभवों की अभिव्यक्ति करने के लिए स्वतंत्र था। निजता की यह स्वतंत्रता हमारे बोध में आए परिवर्तन को सांकेतित करती है। निबंध तथा अन्य गद्य विधाओं की प्राथमिक शर्त है निजी अनुभवों की प्रामाणिक तथा विश्वसनीय अभिव्यक्ति। इसका अर्थ यह नहीं है कि आधुनिक युग गद्य विधाओं में लेखक अनुभवों तक ही सीमित है। निजी शब्द का अर्थ यहाँ अभिव्यंजना सामर्थ्य की विविधता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। चूँकि आधुनिक साहित्य ने संरचना बद्ध ढाँचे को स्वीकार नहीं किया। उसने अपनी विशिष्टता और मौलिकता को प्रस्तुत करने के लिए अनुभवों की प्रामाणिकता को आधार बनाया। अनुभवों की विविधता ने ही आधुनिक साहित्य में विध ााओं और विविध शैलियों को प्रस्तावित किया। किसी भी कलाकार के सामाजिक जीवन के अनुभव के साथ उसके व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों का भी महत्त्व है। उसके जीवन की छोटी-छीटी घटनाएँ भी उसके संवेदन तंत्र को प्रभावित कर देती हैं। चाहे उसका ऐतिहासिक और नाटकीय महत्त्व नहीं हो परंतु वे भी हमारी साहित्यिक अनुभूतियों के हिस्से हैं। रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, और डायरी आदि विध ााओं का संबंध कलाकार के व्यक्तिगत जीवन से है, परंतु संवेदना के स्पर्श के कारण वे व्यक्तिगत अनुभूतियाँ भी साहित्य की सृजनात्मक विधाओं के रूप में प्रस्तुत होने लगी हैं।

इस इकाई में हम रेखाचित्र, संस्मरण, आत्मकथा आदि विधाओं के अध्ययन के संदर्भ में इस बात पर भी चर्चा करेंगे कि किस प्रकार से अनुभूतियों ने साहित्यिक विधाओं के रूप गठन को प्रभावित किया। वैयक्तिक लेखन होने के कारण इन विधाओं का कोई प्रवृत्तिगत रुझान नहीं दिखाई पड़ता है। हर लेखक और रचनाकार अपनी अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्र है। इसलिए इस विधा में प्रवृत्तिगत ऐतिहासिक अध्ययन की संभावनाएँ बहुत ही क्षीण हैं। निबंध के संदर्भ में रचनाकार की व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ-साथ युग की सामान्य प्रवृत्तियों पर भी चर्चा करेंगे।

23.2 निबंध का विकास

नई सांस्कृतिक और राजनैतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में हिंदी निबंध का आरंभ हुआ। नव जागरण की चेतना ने हमारी मानसिकता को परिवर्तित कर हमारे बोध और संवेदना को आधुनिक बनाया। नई तकनीक के विकास से मुद्रण यंत्रों का प्रचलन प्रारंभ हुआ। मुद्रण यंत्र के आविष्कार से पूर्व हमारे साहित्य में वाचिक परंपरा की प्रधानता थी। भारतेन्दु युग में वाचिक परंपरा का रूपांतरण साहित्य की लिखित परंपरा में हुआ। वाचिक परंपरा में साहित्य में श्रोता और वक्ता का जीवित संपर्क होता था। यथार्थ संबंधी आग्रह नये प्रश्नों को उभार रहे थे। इसलिए पारंपरिक साहित्य की विधा में उन नये प्रश्नों का सामंजन नहीं हो रहा था। अनुभूतियों के बाह्य और अभ्यांतर यथार्थ के प्रस्तुतीकरण के लिए नई विधा का आविष्कार हुआ। निबंध का विकास भी इन्हीं वास्तविकताओं के कारण हुआ। मानवतावादी विचार ने मनुष्य में स्वतंत्रता के बोध को विकसित किया। वह अब अपनी इच्छानुसार अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए स्वतंत्र था। निबंध ने इस स्वाधीनता को प्रसारित करने का अवसर दिया।

23.2.1 भारतेन्दु युग (1873 - 1900)

भारतेन्दु युग के निबंधकारों में अत्यंत उदार और स्वाधीन चेतना की पहचान मिलती है। भारतेन्दु युग क निबंधकार सच्चे आधुनिक की तरह भारतीय परंपरा की रूढ़ियों और कुरीतियों पर ही प्रहार नहीं कर रहे थे, पश्चिमी फैशनपरस्त लोगों पर भी व्यंग्य की छींटे छोड़ रहे थे। मुल्ला, पंडित, वैदिक, कर्मकांड, तीर्थ व्रत, पूजा आदि सभी पर इन लेखकों ने व्यंग्य किया। भारतेन्दु युग के लेखकों का उद्देश्य यह दिखाना था कि मानवीय सहानुभूति के बिना धर्म ढोंग है। मानव प्रेम को अपने जीवन में चरितार्थ करने में ही मनुष्य की सार्थकता है। निबंध जनता में जागृति फैलाने का माध्यम बना। उस युग के रचनाकार के लिए निबंध ऐसा माध्यम था जिसके माध्यम से वे पाठक से आत्मीय संबंध स्थापित कर सकते थे। बिना किसी पूर्वाग्रह के, स्वच्छंद होकर इस युग का निबंधकार पाठक का आत्मीय बन जाता था। उनकी सहज आत्मीयता ने भाव और भाषा को भी स्वाभाविक बना दिया।

भारतेन्दु युग की पत्रिकाओं में साधारण विषयों, सामाजिक आंदोलनों और कभी-कभी स्थानीय समाचारों की चर्चा रहती थी। इस युग के निबंधों में विषय का वैविध्य था। तुच्छ से तुच्छ और गंभीर से गंभीर विषयों पर लेखकों ने लेखन किया। उनके द्वारा प्रतिपादित विषय वस्तु में जागृति का स्वर था। निबंधकार राष्ट्रप्रेम से प्रेरित थे। भारतेन्दु युग के निबंधकारों में बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र प्रतिनिधि निबंधकार माने जाते हैं। प्रताप नारायण मिश्र के निबंधों में मनोरंजन के साथ व्यंग्य और कटाक्ष भी मिलता है। लोकजीवन की अनगढ़ता और भदेसपन के संस्कार से उनकी निबंध शैली मुक्त नहीं है। उनके अधिकतर निबंध व्यक्तिनिष्ठ हैं। जो जी में आया विषय ले लिया और उसे रोचक ढंग से प्रस्तुत कर दिया। मिश्र जी हास्य से मन को गुदगुदाने का प्रयत्न करते थे। सामाजिक और राजनैतिक समस्या को भी वे लगातार निबंध में उठाते रहे थे। उनके निबंधों की भाषा प्रवाहमयी है। यह प्रवाह उनकी स्वच्छंद अनुभूति से उपजा है। श्लेष शब्दों और कहावत के प्रयोग से वे भाषा में अनूठा चमत्कार उत्पन्न करते हैं। 'समझदार की मौत', 'भौं', 'बात' आदि उनके प्रमुख निबंध हैं।

बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु युग के दूसरे महत्वपूर्ण निबंधकार थे। भटट् जी के निबंधों में रूढ़ियों के प्रति असंतोष है। वे नये सामाजिक मूल्यों को स्थापित करने के पक्षधर थे। उनके निबंधों में एक प्रकार की नाटकीयता है। यह नाटकीयता वैचारिक टकराहट से उत्पन्न है। नए और पुराने जीवन मूल्यों की टकराहट में इस नाटकीयता की सृष्टि हुई। भट्ट जी के निबंध मनोवैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक थे।

उनमें तर्क की प्रबल शक्ति थी। वे अपने निबंधों में हमें तर्क से प्रभावित करते हैं। विद्वत्ता के साथ गांभीर्य का सहज योग भट्ट जी के निबंधों में देखने को मिलता है। 'माधुर्य' और 'आशा' उनके मनोवैज्ञानिक निबंध हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने राजनैतिक और सामाजिक निबंध भी लिखे। मुहावरे का प्रयोग उनकी भाषा शैली की विशेषता है। 'आँख', 'कान' और 'नाक' आदि निबंधों में भट्ट जी मुहावरे की झड़ी बाँध देते हैं। अपने निबंध में उन्होंने शैली के स्तर पर कई प्रयोग किए हैं। उनके निबंधों की शैली भावात्मक, व्यंग्यात्मक और विश्लेषणात्मक है। प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के संबंध में आचार्य शुक्ल ने लिखा है 'पंडित प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य साहित्य में वही काम किया है, जो अंग्रेजी गद्य साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था।'

भारतेन्दु युग के अन्य निबंध लेखकों में उल्लेखनीय नाम राधाचरण गोस्वामी, श्री तोताराम, ज्वालाप्रसाद, जगमोहन सिंह आदि का है। इन निबंधकारों ने भी उसी आदर्श को अपनाया जो प्रतिनिधि निबंधकारों ने अपनाया। सामाजिक सुधार और देश प्रेम उनके निबंधों का मुख्य मुद्दा था। निबंध को जनजीवन के समीप लाने में भारतेन्दु युग के रचनाकारों का महत्वपूर्ण योगदान है।

23.2.2 द्विवेदी युग (1900 - 1920)

सरस्वती पत्रिका के आरंभ के साथ ही हिंदी साहित्य में द्विवेदी युग का प्रारंभ होता है। भारतेन्दु युग के निबंधकारों में आत्मीयता और अनौपचारिकता का भाव था। द्विवेदी युग के निबंधों में अनौपचारिकता और आत्मीयता का वह भाव नहीं मिलता। भारतेन्दु युग के निबंधों में जितनी अधिक स्वच्छंदता और उन्मुक्तता मिलती है, द्विवेदी युग के निंबधों में उस उन्मुक्तता और स्वच्छंदता का आभाव पाया जाता है। द्विवेदी युग के निबंधों में एक विशिष्ट प्रकार की वैचारिकता का प्रसार मिलता है। भाषा के लिए द्विवेदी जी ने जिस अनुशासन को आधार बनाया, उससे रचनात्मक साहित्य भी प्रभावित हुआ। इस अनुशासन का छाया में निबंध का स्वच्छंद विकास संभव नहीं था। द्विवेदी युग के निबंध साहित्य में एक विशिष्ट प्रकार की मनोवृत्ति की सूचना मिलती है। इस मनोवृत्ति के गठन में देश की आर्थिक विषमता और व्यापक राष्ट्रीय समस्याओं का योगदान था। इसलिए द्विवेदी युग के निबंधों में बौद्धिकता का प्रसार मिलता है। यह बौद्धिकता संवेदना की अपेक्षा ज्ञान को झकझोरती हुई प्रतीत होती है। लेखकों का ध्यान ज्ञान के विविध क्षेत्रों से सामग्री ग्रहण करने की ओर अधिक था। द्विवेदी काल के निबंधों में लालित्य का अभाव था। वास्तव में यह युग राष्ट्रीय जागृति, विश्वप्रेम, सामाजिक एकता, अतीत गौरव, सांस्कृतिक नवजागरण तथा भाषा के परिष्कार का युग है। यही कारण है कि इस युग के निबंधों में विषयों की विविधता, विचारों की गंभीरता, भाषा की शुद्धता तथा व्याकरण सम्मता अधिक मिलती है। उस युग में निबंधों की रचना विचारों और तर्कों के आधार पर की गई। द्विवेदी युग में इतिहास, पुरातत्व दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीति और अर्थशास्त्र आदि को निबंधों का विषय बनाया गया। दूसरी भाषाओं के निबंधों के अनुवाद भी किए गए। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'बेकन विचार रत्नावली' नाम से बेकन के निबंधों को हिंदी में प्रकाशित कराया था। गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी निबंधकार चिपलूणकर के निबंधों का हिंदी में अनुवाद प्रस्तुत किया।

द्विवेदी युग के निबंधकारों में सर्वप्रथम महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबंधों पर चर्चा करना अपेक्षित होगा। द्विवेदी जी के निबंध में आत्माभिव्यंजना का तत्व गौण था। उनके निबंध विषय प्रधान हैं। उनके निबंधों में विचारों की प्रधानता है, परंतु विचारों की शृंखला निबंध में किसी बौद्धिक उत्तेजना को प्रतिपादित करती हुई प्रतीत नहीं होती है। उसमें विचार पद्धति की अन्विति का अभाव मिलता है। उनके निबंधों में 'कवि और कविता' तथा 'प्रतिभा' आदि विचारप्रधान निबंध हैं। द्विवेदी युग के दूसरे महत्वपूर्ण लेखक माधव प्रसाद मिश्र थे। मिश्र जी के निबंधों के विषय पर्व, त्योहार, उत्सव, यात्रा, राजनीति आदि अनेक क्षेत्रों से लिए गए थे। उनके निबंधों में रोचकता का स्पर्श मिलता है। इससे पाठक की जिज्ञासा वृत्ति निबंध में लगातार सक्रिय रहती है। 'धृति', 'क्षमा' और 'सिद्धि' उनके प्रतिनिधि निबंध हैं। भावात्मक निबंधों की प्रवाहमयी शैली मिश्र जी के निबंधों की शैली है। उसमें ओज और आवेग है। शैली के प्रवाह में भाषा का चंचल रूप उनके निबंधों में आँख मिचौली करती प्रतीत होती है।

बालमुकुन्द गुप्त, काल की दृष्टि से भारतेन्दु काल और द्विवेदी काल के संक्रांत बिंदु पर रचनाशीलता में प्रवेश करते हैं। परंतु उन्हें द्विवेदी काल में ही रखा जाता है। 'शिवशंभु का चिट्ठा' बाल मुकुन्द गुप्त की कीर्ति का मूलाधार है। इस निबंध में रचनाकार ने अनोखे ढंग से लार्ड कर्जन की भारतविरोधी नीतियों की कड़ी आलोचना की है। रचनाकार की राजनैतिक सजगता जनता को औपनिवेशिक रणनीतियों से अवगत कराती है। गंभीर बातों को विनोदपूर्ण या व्यंग्यात्मक ढंग से कहकर अपने हृदय का क्षोभ और दुःख को व्यक्त कर देना उनकी विशेषता है। गुप्त जी उर्दू से हिंदी में आए थे, इससे उनकी हिंदी बहुत चलती और फड़कती हुई थी। उनके निबंध वर्णनात्मक किस्म के हैं परंतु उनमें शुष्कता नहीं है। वे अत्यंत सरस और मनोरंजक हैं।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी द्विवेदी युग के महत्वपूर्ण निबंधकार थे। 'कछुआ धरम' तथा 'मारेसि मोहिं कुठांउ' उनके बहुचर्चित निबंध हैं। उनके निबंध में विशिष्ट प्रकार की बौद्धिकता है। यह बौद्धिकता ज्ञान के विविध क्षेत्रों से अर्जित की गई है। बौद्धिकता ने कहीं भी निबंध की संवेदना को बोझिल होने नहीं दिया है। इसके विपरीत गूढ़ और शास्त्रीय विषयों के बीच भी वे मनोरंजक प्रसंग की योजना करते हैं। शास्त्रों के ज्ञान की शुष्कता को सरस ढंग से प्रस्तुत करना उनकी अपनी शैली है। **सरदार पूर्ण सिंह** भी द्विवेदी काल के महत्वपूर्ण निबंधकार थे। उनके निबंधों में शांति, समानता और मानवीय करुणा का संदेश है। पूर्ण सिंह के निबंधों में मशीनी सभ्यता की अशांति के विरुद्ध आध्यात्मिक शांति को खोजने की बेचैनी है। किसान और मजदूरों के प्रति उनमें हमदर्दी है। श्रम के प्रति उनमें निष्ठा का भाव है। उनके निबंधों में विचार और भावों का सम्मिश्रण है विचार और भाव मिलकर निबंध की विषयवस्तु का गठन करते हैं। शैली की दृष्टि से उनके निबंध भावात्मक कोटि के हैं। 'सच्ची वीरता', 'आचरण की सभ्यता' तथा मजदूरी और प्रेम' उनके प्रतिनिधि निबंध हैं।

द्विवेदी युग के अन्य निबंधकारों में गोविन्द नारायण मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पद्म सिंह शर्मा, गणेश शंकर विद्यार्थी, मन्नन द्विवेदी आदि का नाम उल्लेखनीय है। गोविन्द नारायण मिश्र पांडित्यपूर्ण संस्कृतनिष्ठ गद्य शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी हास्यपूर्ण शैली के लिए जाने जाते हैं। पद्म सिंह शर्मा के निबंध की शैली तार्किक है। द्विवेदी युग के निबंधों में विषय चयन की दृष्टि से पर्याप्त विस्तार मिलता है।। द्विवेदी युग के निबंधकारों ने मुख्यतः विचार प्रधान निबंध लिखे।

23.2.3 शुक्ल युग (1920 - 1940)

द्विवेदी युग के बाद हिंदी निबंध साहित्य के इतिहास का एक नया दौर प्रारंभ होता है। इस काल को निबंध साहित्य के इतिहास में शुक्ल युग के नाम से जाना जाता है। निबंध का शुक्ल युग और कविता का छायावाद युग दोनों युग समानान्तर रूप से चलते हैं। छायावादी आंदोलन में कविता को आत्माभिव्यंजक, अमूर्त और लाक्षणिक सौन्दर्य से विभूषित किया गया। निबंध को भी इस युग में नये प्रकारों से तराशा गया। लेखकों ने विचारों और भावों की सूक्ष्मता से निबंध को अधिक व्यंजक और आकर्षक रूप दिया। द्विवेदी युग के निबंधों में विचारों और भावों की स्थूलता थी। शुक्ल युग में निबंधों का आंतरिक गठन बदला हुआ प्रतीत होता है। आंतरिक गठन बदलने का कारण यह था कि कविता और साहित्य की दूसरी विधाओं में परिमार्जन हो रहा था। कविता में भावों की व्यंजना पर बल दिया जा रहा था। इस युग के निबंध में भाव के वस्तुगत यथार्थ की खोज की जा रही थी। आचार्य शुक्ल के मनोविकार संबंधी निबंध में इसी बात को समझाने का प्रयास किया गया है कि मनोविकार का वस्तुगत कारण क्या होता है ? शुक्ल जी ने मनोविकार का सामाजिक आधार स्पष्ट करते हुए उसे मनुष्य के व्यवहार से जोड़ा। इस वैज्ञानिक दृष्टि ने निबंध के पूरे गठन को परिवर्तित करके रख दिया। इस दृष्टि का प्रभाव उस युग के दूसरे निबंधकारों पर भी पड़ा। दूसरे निबंधकारों ने भी विषयवस्तु को गहराई में समझने का प्रयास किया। इस प्रकार हम पाते हैं कि इस युग में निबंध का पूरा ढांचा ही परिवर्तित हो गया। शुक्ल युग के निबंधों में विचारों का पक्ष जितना सघन, सूक्ष्म और व्यंजक हुआ उतना लालित्य का पक्ष मनोरम नहीं बन सका। लालित्य के लिए जिस मुक्त मानसिकता की जरूरत होती है, उस मुक्त मानसिकता की पहचान शुक्ल युग के निबंधों में बहुत ही अल्प मात्रा में मिलती है। लालित्य के अभाव में निबंधों का आवरण सैद्धान्तिक सा होने लगा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को केन्द्र में रखकर निबंध के इस युग का नाम शुक्ल युग पड़ा। आचार्य शुक्ल ने समीक्षात्मक और आलोचनात्मक आदि कई प्रकार के निबंध लिखे, परंतु यहाँ हम मुख्यत: उनके मनोविकार संबंधी निबंधों की चर्चा करेंगे। मनोविकार संबंधी उनके निबंध द्विवेदी युग में पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे। परंतु उसका परिमार्जन छायावाद के युग में भी होता रहा था। शुक्ल जी के मनोभाव संबंधी निबंधों का संग्रह पहले 'विचारबीथी' के नाम से 1930 में प्रकाशित हुआ। बाद में 'चिंतामणि' नाम से 1939 ई० में परिवर्धित और संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ। निबंध के संबंध में आचार्य शुक्ल का अपना एक दृष्टिकोण है। वे निबंध के संबंध में लिखते हैं ' तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिक से निबंध लेखक की भिन्नता इस बात से भी है कि निबंध लेखक जिधर चलता है उधर अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए।' निबंध में विचार की सत्ता जितनी महत्वपूर्ण है, भाव की सत्ता का भी उतना ही महत्व है। उनके अनुसार भाव और विचार की सत्ता के संबंध सूत्रों को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की चुनौती निबंधकार के सामने होती है। आचार्य शुक्ल निबंध की इस अवधारणा को सैद्धान्तिक रूप में ही स्वीकार नहीं करते हैं, सर्जनात्मक रूप में उसका उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं।

मनोविकार संबंधी निबंध उनके सैद्धान्तिक चिंतन के सर्जनात्मक प्रमाण हैं। उनके निबंध में सर्वप्रथम सूत्रात्मक रूप से विषय वस्तु को परिभाषित किया जाता है। पुन: उसकी व्याख्या की जाती है और विश्लेषित किया जाता है। उसके बाद वे भावों के अंतर को स्पष्ट करते हैं। अपने व्यक्तिगत अनुभव से अपनी बातों को पुष्ट करते हैं और फिर एक निष्कर्ष को पाठक के सामने रखते हैं। आचार्य शुक्ल निबंध में समास और व्यास दोनों शैलियों को ग्रहण करते हैं। किस बात का कितना विस्तार होना चाहिए और उसमें कितनी संक्षिप्तता होनी चाहिए, इसकी गहरी पहचान उनके निबंधों में मिलती है। भाषा में उन्होंने विचार को प्रवाहित किया है। इससे भाषा में कसावट आ गई है। परंतु प्रसंग को मनोरंजक बनाने के लिए वे प्रसंगानुसार भाषा को रचते हैं। आइए, अब शुक्ल युग के कुछ अन्य महत्वपूर्ण निबंधकारों का परिचय प्राप्त करें। **बाबू गुलाब राय** इस युग के महत्वपूर्ण निबंधकार थे। वे व्यक्ति व्यंजक निबंधकार हैं। उन्होंने दार्शनिक, साहित्यिक, संस्मरणात्मक और विनोदात्मक निबंधों को रचना की है। इनके निबंधों में वैयक्तिकता, अनुभूति की गहनता और शैली की सुबोधता, सभी गुण समान रूप से मिलते हैं। उन्होंने स्वयं अपने व्यक्तित्व, कृतित्व और विचारों को भी हास्य का आलम्बन बनाया है। 'प्रबंध प्रभाकर', 'फिर निराश क्यों', 'मेरी असफलताएँ' आदि उनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं। उनके निबंधों में दर्शन शास्त्र की तार्किक शैली का संयोजन मिलता है। उनके कुछ निबंधों में उनके व्यक्तित्व की निजी प्रतिक्रिया और अभिव्यक्ति मिलती है। **पदुम लाल पुन्नालाल बख्शी** के निबंध संग्रह 'पंचरात्र', 'कुछ और कुछ', 'मकरंद बिंदु' और 'प्रबंध परिजात' में निष्कपट भाव की निश्छल अभिव्यक्ति है। भाव और भाषा की सजीवता उनकी शैली की विशेषता है। **शांतिप्रिय द्विवेदी** के निबंध संग्रह 'कवि और काव्य' तथा 'साहित्यिकी ' का नाम उल्लेखनीय है। उनके निबंधों की शैली में छायावादी भावुकता का प्रभाव मिलता है। भावों की तरल अभिव्यक्ति उनके निबंध अभिव्यंजना के मूल तत्व हैं। भावों की तरलता को सुकुमार शब्दों में नियोजित करना उनकी भाषा की विशेषता है। **शिवपूजन सहाय** के निबंधों में अनौपचारिकता का भाव मिलता है। उनके निबंधों में मस्ती और जिंदादिली का संदेश संप्रेषित होता है। 'कुछ' शीर्षक से प्रकाशित उनका निबंध संग्रह अत्यंत रोचक शैली में लिखा गया है। **रघुवीर सिंह** की 'शेष स्मृतियाँ' निबंध संग्रह शुक्ल युग की उल्लेखनीय कृति है। इस निबंध संग्रह में लेखक ने मुगल काल की घटनाओं और इमारतों के संबंध में काल्पनिक प्रसंग की योजना कर भावात्मक शैली में अच्छे निबंध रचे हैं।

जयशंकर प्रसाद ने कविता कहानी, उपन्यास और नाटक के अतिरिक्त निबंध भी लिखे हैं। 'काव्यकला तथा अन्य निबंध इनका निबंध संग्रह है जिसमें महत्वपूर्ण विषयों से संबंधित आठ निबंध हैं'। **निराला** जी ने सामाजिक, राजनैतिक अंतर्विरोधों और भाषागत, छंदगत समस्याओं को आधार बनाकर चिन्तन प्रधान निबंधों की रचना की है। **पंत** जी ने पल्लव की भूमिका के माध्यम से निबंध लेखन के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया है। इनके अतिरिक्त महादेवी वर्मा, आ० नन्ददुलारे वाजपेयी, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', सद्गुरू शरण अवस्थी, वियोगी हरि भी इस युग के महत्वपूर्ण निबंधकार हैं।

23.2.4 शुक्लोत्तर निबंध

कथ्य और शिल्प की दृष्टि से सन् 1940 के बाद हिन्दी निबंध का बहुत विकास हुआ, और आज निबंध गद्य की एक सशक्त विधा हो गई है। विभिन्न प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं, संकलनों तथा संग्रह ग्रंथों में सबसे अधिक संख्या निबंधों की ही मिलती है। आज निबंध के पाठकों की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई है। जैसे-जैसे यथार्थवादी जीवन दृष्टि और मौलिकतावादी मनोवृत्ति बढ़ती गई वैसे-वैसे पाठक निबंध साहित्य के प्रति आकर्षित होता गया। आज सामान्य व्यक्ति भारी भरकम विषय पर भारी भरकम भावात्मक और वैचारिक अभिव्यक्तियों के पारायण में विश्वास नहीं रखता। उसे सीधे सादे मनोरंजक और सरल साहित्य की अपेक्षा है। यही कारण है कि आज वैयक्तिक और व्यक्तिव्यंजक निबंधों का प्रचलन बढ़ रहा है।

शुक्ल युग के समाप्त होते-होते हिंदी में व्यक्ति प्रधान निबंधों के लिए आधारभूमि तैयार हो चुकी थी। इसी समय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी निबंध रचना में सक्रिय हो रहे थे। शुक्लोत्तर निबंधकारों में हजारी प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व केन्द्रीय है। उन्होंने अपनी मौलिकता से निबंध साहित्य को नई दिशा दी। इनके ललित निंबधों की कल्पनाशीलता, रोमांटिक भावबोध पैदा करती है। उनके निबंधों में नाटकीयता का गहरा अनुभव मिलता है। वे किसी बात की जितनी गहराई में जाते हैं उसे उतने ही सहज रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। निबंध के विषय के साथ वे पाठक को लेकर सांस्कृतिक यात्रा पर निकल पड़ते हैं। इस सांस्कृतिक यात्रा में वे कहीं भी असहज नहीं होते हैं। अपने पांडित्य को लोक मानस की संवेदना के साथ घुला मिला देना उनकी खास विशिष्टता है। उनकी सांस्कृतिक दृष्टि हमें अतीत की ओर नहीं ले जाती। वह कहीं न कहीं हमारे समकालीन समाज की विषमताओं पर प्रहार करती है। उनके निबंध में विवेक और आत्मविश्वास का स्वर भरा है। यह आत्मविश्वास गहरी मानवीय जिजीविषा से उपजा है। द्विवेदी जी के निबंधों में शोषितों के प्रति गहरी सहानुभूति है। समाज में हाशिए पर जीने वाले लोगों के प्रति आत्मीयता है। उनके निबंध की शैली में अनगढ़ता है, जो उनके निजी अनुभव और खोज का नतीजा है। निबंधों में उनके अनुभूति का स्पंदन है। उसमें कविता की सूक्ष्मता और गद्य की वैचारिकता का समावेश है। यद्यपि आचार्य द्विवेदी परम्परा को स्वीकार करते हैं परन्त उसके रूढ़ तत्व को महत्व नहीं देते अपितु उसके जीवन्त पक्ष को ही मान्यता देते हैं। मूलत: ये भारतीय संस्कृति के पोषक हैं। 'अशोक के फूल' (1948), 'कल्पलता' (1951) 'विचार प्रवाह' (1957) और 'कुटज' उनके प्रतिनिधि निबंध संग्रह हैं।

शुक्लोत्तर युग के निबंधकारों में **जैनेन्द्र** का नाम उल्लेखनीय है। उनके निबंध मुख्यत: **विचार प्रधान** हैं। जैनेन्द्र जी विचार के वृहत् संदर्भ का स्पर्श करते हैं। उन्होंने धर्म, राजनीति, संस्कृति, साहित्य, सेक्स, काम, प्रेम आदि विषयों से अपने निबंध का टेक्सचर तैयार किया है। 'जड़ की बात', 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'सोच विचार', 'मन्थन' आदि उनके प्रतिनिधि निबंध संग्रह हैं। **दिनकर** ने काव्य के साथ-साथ गद्य की रचना भी की। 'अर्द्धनारीश्वर', मिट्टी की ओर', 'रेती के फूल', 'हमारी सांस्कृतिक एकता' आदि उनके निबंध संग्रह हैं। दिनकर के निबंधों में उनकी सांस्कृतिक आस्था और मानवतावादी दृष्टि उभरती है। **राम वृक्ष बेनीपुरी** ने बहुत कम निबंध लिखे हैं। परंतु उनकी शैली और विचार में नवीनता है। 'गेहूँ और गुलाब' तथा 'वन्दे वाणी विनायकौ' उनके प्रमुख निबंधों संग्रह है। उनके निबंध में कला और संस्कृति तथा भौतिकता के बीच की टकराहट को विषय बनाया गया है। बेनीपुरी की निबंध शैली में विचार और भाव का मिला-जुला रूप मिलता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी निबंधकारों में विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय और प्रभाकर माचवे का नाम महत्वपूर्ण है। **प्रभाकर माचवे** का 'खरगोश के सींग', **विद्यानिवास मिश्र** के 'छितवन की छाँह', 'तुम चंदन हम पानी', 'आंगन का पंछी बनजारा मन', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' तथा **कुबेरनाथ राय** के 'प्रिया नीलकंठी', 'रस आखेटक', 'गंध मादन ' और 'विषाद योग' प्रमुख निबंध संग्रह हैं। प्रभाकर माचवे के निबंधों में व्यंग्य की कड़ुवाहट है। विद्यानिवास मिश्र ने जीवन के विविध सांस्कृतिक पक्षों को रागात्मकता के साथ अंकित किया है। उनके निबंध की संवेदना गीतात्मक हो जाती है। यह गीतात्मकता उन्होंने लोकजीवन की लयात्मक संवेदना से प्राप्त की है। उनके निबंध में विचार की अपेक्षा लालित्य की प्रधानता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी की शैली का गहरा प्रभाव मिश्र जी के निबंधों पर है। कुबेरनाथ राय भी द्विवेदी जी की शैली से प्रभावित हैं। **व्यंग्य शैली** के निबंधकारों में हरिशंकर परसाई का नाम अग्रणी है। उनके निबंधों के विषय मुख्यत: सामाजिक और राजनैतिक होते हैं। समकालीन समाज की विसंगतियों के प्रति

उनके निबंधों में विक्षोभ का भाव है। परसाई की अंतर्दृष्टि में मानवीय करुणा के प्रति समर्पण है। इसलिए उनके निबंध हास्य की फूहड़ता की जगह व्यंग्य का तीव्र आघात करते हैं। 'भूत के पाँव', 'सदाचार की तावीज' और निठल्ले की डायरी' परसाई के प्रतिनिधि निबंध संग्रह हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी निबंध में अज्ञेय और निर्मल वर्मा का महत्वपूर्ण योगदान हैं। अज्ञेय और निर्मल के चिंतन की दिशा लगभग एक ही रही है। समाज, व्यक्ति, परंपरा, काल, औपनिवेशिकता आदि ऐसे बिंदु हैं जिसे दोनों रचनाकारों ने समान रूप से उठाया है। कला, साहित्य और संस्कृति के आंतरिक रिश्तों की पहचान के साथ आधुनिक युग के संकट के संदर्भ में उनका मूल्यांकन दोनों रचनाकारों के प्रिय विषय रहे हैं। दोनों रचनाकारों की शैली में अंतर है। अज्ञेय के निबंध के गद्य विचारात्मक उत्कृष्टता के प्रामाणिक दस्तावेज हैं। निर्मल के निबंध में लयात्मकता है। उनके विचार लयात्मक चिंतन में ढले हुए प्रतीत होते हैं। 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद', 'सर्जना और संदर्भ', 'आलवाल', 'संवत्सर', आदि अज्ञेय के प्रतिनिधि निबंध संग्रह हैं। 'कला का जोखिम', 'हर वारिस में', 'शब्द और स्मृति', 'भारत और योरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र' आदि निर्मल की मुख्य निबंध कृतियाँ हैं। नये रचनाकारों में अशोक वाजपेयी और रमेश चन्द्र शाह की कई कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। निबंध विधा को ये रचनाकर अपनी अंतर्दृष्टि से समृद्ध कर रहे हैं।

23.3 अन्य गद्य विधाएँ

अन्य गद्य विधाओं के अन्तर्गत हम रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, यात्रावृतांत, रिपोर्ताज, साक्षात्कार, तथा डायरी का अध्ययन करेंगे । जीवन की ईमानदार और प्रामाणिक अनुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए इन विधाओं का विकास हुआ। इन विधाओं में व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन प्रकाशित होता है। उनके व्यक्तिगत जीवन के द्वंद्व, उल्लास और पीड़ा के वास्तविक चित्र इन गद्य विधाओं में मिलते हैं। कलाकार के व्यक्तिगत अनुभव में उसके युग की संवेदनशीलता छिपी होती है। इन विधाओं के अध्ययन के माध्यम से आप कलाकार की व्यक्तिगत विशिष्टता के साथ-साथ उस युग के यथार्थ को पहचान सकेंगे।

23.3.1 रेखाचित्र

1940 के बाद हिंदी साहित्य में प्रयोग का दौर शुरू हुआ। प्रयोग मात्र कविता में ही नहीं किए गए। प्रयोग का असर साहित्य की विविध विधाओं पर भी हुआ। 1940 के बाद साहित्यिक विधाओं के नए-नए रूप सामने आए। उपन्यास जो अभी तक वर्णनात्मक विधा थी। उसे जीवनी की शक्ल में पेश किया गया। अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' इसका उदाहरण है। कविता और नाटक के संयोग से काव्य नाटक का जन्म हुआ। 'अंधायुग' काव्य नाटक का प्रत्यक्ष प्रमाण है। विधाओं के मिश्रण में हमारे जीवनानुभव के प्रतिबिम्ब मिलते हैं। वस्तुत: समाज की जटिलता के बीच हमारे अनुभव की गति सीधी नहीं रह सकी सामाजिक अनुभव से ऐसी संवेदनाएँ पैदा हुईं जो मिली जुली थीं। इसलिए शिल्प के ढाँचे को भी नवीन रूप देना पड़ा। कहानी के कथानक की संवेदनशीलता, चित्रकला के रंग रेखाओं की सूक्ष्मता और सांकेतिकता तथा संस्मरण के स्मृति तत्व के मिश्रण से रेखाचित्र का स्वरूप निर्मित हुआ। रेखचित्र गद्य की एक नवीन विधा है। अपनी व्यापक संवेदन शीलता और सुन्दर कलात्मक शैली के कारण आज हिन्दी की समस्त आधुनिक विधाओं में रेखाचित्र ने अपना एक निश्चित और विशिष्ट सथान बना लिया है।

रेखाचित्र की स्मृति में पीड़ा का बोध होता है। इस पीड़ा में बिछुड़ने की संवेदना होती है। रेखाचित्रकार जिसका वर्णन कर रहा होता है। उससे अलग होने की पीड़ा और दर्द ही उसे रेखाचित्र निर्मित करने को प्रेरित करता है। श्रेष्ठ रेखाचित्रकार की कृतियों को पढ़ने पर यह अहसास और भी तीव्र हो जाता है। महादेवी ने अपने रेखाचित्र के संग्रह का नाम ही 'अतीत के चलचित्र' रखा है। इसमें अतीत के प्रति सम्मोहन है, उससे अलग होने की घनी पीड़ा भी है। वस्तुत: रेखाचित्र की साहित्यिक विधा के रूप में चर्चा ही महादेवी की रचनाओं से आरंभ होती है। समाज में निम्नस्तर पर रहने वाले लोगों के प्रति महादेवी में करुणा और सहानुभूति है। लेखिका ने जिन पात्रों को अपने रेखाचित्र में स्थान दिया है उन सभी के जीवन में कुछ न कुछ अभाव है। यह अभाव उन पात्रों के प्रति सहानुभूति को जन्म देते हैं। महादेवी के कुछ रेखाचित्र आक्रोश को जगाते हैं। महादेवी के रेखाचित्रों में 'अतीत के चलचित्र' (1941) और ' स्मृति की रेखाएँ (1947) उनकी प्रतिनिधि कृतियाँ हैं। महादेवी के पूर्व के रेखाचित्रकारों में श्रीराम शर्मा की कृति 'बोलती प्रतिमा' (1937), 'जंगल के जीव' (1947) आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। महादेवी के बाद रेखाचित्र लेखकों में रामवृक्ष बेनीपुरी का स्थान महत्वपूर्ण है। बेनीपुरी का 'लालतारा'

और 'माटी की मूरतें' प्रसिद्ध रेखाचित्र हैं। लेखक ने ग्रामीण परिवेश को पात्रों के माध्यम से रेखचित्र में साकार कर दिया है। अपनी धरती के लोगों के प्रति उनमें स्वाभाविक और सच्चा स्नेह झलकता है। सामान्य जन की जिंदगी के प्रति सम्मान और आत्मीयता का भाव लेखक में भरा हुआ है। प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'रेखाचित्र' भी रेखाचित्रों में उल्लेखनीय है। राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह का 'टूटा तारा' रेखाचित्र का बेजोड़ उदाहरण है। उनकी शैली में चमत्कारिक शक्ति है। शिवपूजन सहाय के रेखाचित्र 'वे दिन वे लोग' व्यंग्य प्रधान रेखाचित्र के उदाहरण हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी की 'रेखाएँ बोल उठी' रेखाचित्र विधा की उल्लेखनीय रचना है। विष्णु प्रभाकर के 'कुछ शब्द कुछ रेखाएँ' सामाजिक विसंगति को उभारने वाले रेखाचित्र हैं।

23.3.2 संस्मरण साहित्य

संस्मरण और रेखाचित्र में बहुत ही सूक्ष्म अंतर है। यदि लेखक व्यक्तित्व चित्रण तक ही स्मृति को सीमित रखता है तो वह रचना रेखाचित्र की श्रेणी में रखी जाएगी। यदि लेखक स्मृतियों से प्रसंग को उभारने का काम करता है तो वह रचना संस्मरण कहलाएगी। संस्मरण में पूरा संदर्भ और प्रसंग अर्थवान होता है। रेखाचित्र में व्यक्ति चित्रांकन का केन्द्र बिंदु होता है। स्मृति में एक विशिष्ट प्रकार की संवेदना होती है। यह संवेदना हमारे नोस्टलजिक बोध को झंकृत कर देती है। संस्मरण से हमारा अतीत बोध जुड़ा होता है।अतीत का कोई मूल्यवान क्षण संस्मरण रचने को प्रेरित करता है। संस्मरण में कथा का ताना-बाना सच्ची घटनाओं से बुना जाता है।

संस्मरण आधुनिक गद्य विधा है। हिंदी में संस्मरण साहित्य का प्रारंभ द्विवेदी युग से होता है। सरस्वती पत्रिका में कुछ संस्मरण यदा कदा प्रकाशित हो जाते थे। हिन्दी में संस्मरण लिखने का प्रारंभ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही हुआ। 'सरस्वती', 'माधुरी', 'क्षुधा', 'विशाल भारत' आदि में साहित्यिकों और समाज सुधारकों के संस्मरण छपते रहते थे, हिन्दी में पहला संस्मरण 1907 ई० में बालमुकुन्द गुप्त द्वारा प्रतापनारायण मिश्र पर लिखा गया था, इसके कुछ दिन बाद ही गुप्त जी द्वारा लिखित 'हरिऔध जी के संस्मरण' नामक एक अन्य संस्मरणात्मक पुस्तक का भी उल्लेख मिलता है। इसमें पन्द्रह संस्मरण संकलित हैं। सन् 1928 में रामदास गौड़ ने श्रीधर पाठक और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' जैसे साहित्यकारों का संस्मरण लिखा, ये संस्मरण दोनों साहित्यकारों की साहित्यिक अंतर्दृष्टि स्पष्ट करने में सहायक हैं। 'क्षुधा' पत्रिका में इलाचंद्र जोशी ने 'मेरे प्रारंभिक जीवन की स्मृतियाँ' शीर्षक से अपने बचपन की स्मृतियों को लिखा। 1932 ई० में 'विशाल भारत' पत्रिका में बनारसीदास चतुर्वेदी ने श्रीधर पाठक का संस्मरण रेखाचित्र लिखा। ये संस्मरण कभी तो संस्मरण लेखक के ही बारे में होते थे कभी इनमें किसी व्यक्ति के जीवन की विशेषताओं का चित्रण होता था। देखा जाए तो, बीसवीं शताब्दी के प्रथम, द्वितीय और तृतीय दशकों में संस्मरण विधा स्थापित होने लगी थी। इस संस्मरणों में उस समय की राजनीतिक और साहित्यिक जीवन की गतिविधियों का चित्र भी प्राप्त होता है। इस समय रूपनारायण पांडेय, गोपालराम गहमरी, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि के संस्मरण भी प्रकाशित होने लगे थे।

संस्मरण लेखन में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'सावनी समां' (1938) तथा 'सूरदास' (1940) उनकी विशिष्ट संस्मरणात्मक कृतियाँ हैं। 'सूरदास' में उन्होंने नायक सूरदास की संवेदनशीलता के साथ-साथ उसके आत्मविश्वास को भी उभारने का प्रयत्न किया है। निम्न वर्ग के पात्रों में मानवता की खोज और उर्दू-मिश्रित चुभती हुई भाषा-शैली राधिकारमण जी के संस्मरणों की विशेषता है। महादेवी वर्मा के संस्मरण हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। उनकी कृति 'पथ के साथी' (सन् 1956) में लेखिका ने अपने समकालीन रचनाकारों का संस्मरण लिखा है। इस कृति में पंत, निराला, सुभद्राकुमारी चौहान, मैथिलीशरण गुप्त आदि के संस्मरण संकलित हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के संस्मरण 'जंजीरे और दीवारे' में उनके जेल जीवन के संस्मरण है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर की कृति 'भूले हुए चेहरे' उल्लेखनीय संस्मरण रचना है। संस्मरण लेखन में रामधारी सिंह दिनकर की कृति 'लोकदेव नेहरू' तथा 'संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ' महत्वपूर्ण हैं। 'लोकदेव नेहरू' में नेहरू के जीवन की अंतरंगता और अनौपचारिकता से परिचित कराया गया है। नेहरू के समकालीन रचनाकारों के संबंधों पर भी प्रकाश डाला गया है। 'संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ' में लेखक ने अपने युग के प्रमुख राजनीतिज्ञों और साहित्यकारों का स्मरण किया है। डॉ नगेन्द्र के संस्मरण 'चेतना के बिंब' में

सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त आदि व्यक्तियों के जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं को संस्मरण में उभारने को प्रयत्न किया गया है। हरिवंश राय बच्चन की कृति 'कवियों में सौम्य संत हैं' में सुमित्रानंदन पंत के आत्मीय और साहित्यिक संस्मरण दिए गए हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा का 'संस्मरणों के सुमन', विष्णु प्रभाकर की 'मेरे अग्रज: मेरे मीत' तथा फणीश्वरनाथ रेणु का 'वन तुलसी की गंध' उल्लेखनीय संस्मरणात्मक कृतियाँ हैं। संस्मरण साहित्य में अज्ञेय की कृति 'स्मृतिलेखा' का महत्वपूर्ण स्थान है। इस रचना में श्रद्धेय साहित्यकारों के साथ बिताए गए क्षणों का वर्णन है। इस संस्मरण में साहित्यकार के व्यक्तित्व को उनकी कलाकृति से जोड़ने का प्रयास किया गया है। 'स्मृतिलेखा' तथ्यों का ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है। वह स्मृति की विशिष्ट सर्जना है। एक रचनाकार जब दूसरे रचनाकार को देखता है, उसमें जो कुछ ग्रहण करता है उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति 'स्मृतिलेखा' में मिलती है। स्मृति अज्ञेय के लिए मूल्यांकन की रचनात्मक कसौटी बन गई है।

23.3.3 जीवनी

जीवनी भी आधुनिक गद्य की विधा है। वस्तुत: जीवनी किसी रूप में हमारे पारंपरिक साहित्य में भी वर्तमान रही है। तुलसीदास ने रामचरितमानस लिखा। उसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन की घटनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति है। परंतु रामचरितमानस जीवनी नहीं चरित काव्य है। उसमें लौकिक और अतिलौकिक कल्पना के द्वारा जीवन के उदात्त पक्षों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। उसमें तथ्यों की वास्तविकता को जीवन सूत्र के रूप में उपस्थित नहीं किया गया है। जीवनी लेखक की कल्पना को मनमानी छूट नहीं होती है। पात्र के जीवन की वास्तविक जानकारी के आधार पर ही लेखक कल्पना द्वारा एक चित्र उकेर सकता है। जीवनी लेखक को इतिहास के घटनाक्रम और उपन्यास की रोचकता के मध्य अपना मार्ग ढूँढ़ना पड़ता है। घटनाक्रम की प्रामाणिक जानकारी के आधार पर ही उसे विवेचन करना होता है। जीवनी की रचना के लिए निष्पक्षता की जरूरत होती है। जीवनी में लेखक को उन मानवीय कमजोरियों को भी उभारना होता है जो पात्र के जीवन में हैं। जीवन के घटनाक्रम को व्यवस्थित रूप में भी प्रस्तुत करना होता है ताकि उसमें क्रम बना रहे। वस्तुत: जीवनी लेखक का कार्य अत्यन्त कठिन है। जीवनी लेखन जहाँ कठिन है वहीं उसके लेखन में सतर्क दृष्टि भी परम आवश्यक है। जीवनी गद्य साहित्य का वह रूप है जिसकी अपनी पहचान होती है और उसके स्वरूप की यही निजता उसे गद्य की अन्य विधाओं से अलग करती है। जीवनी किसी व्यक्ति के जीवन का प्रभावपूर्ण और कमबद्ध किन्तु धारावाहिक रूप में किया गया वर्णन है। देश-काल और परिस्थितियों का अंकन भी चरित नायक के जीवन की घटनाओं को पुष्ट रूप में प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक होता है। इसमें चरित नायक के चरित्र का खुला वर्णन, उसके शारीरिक और बौद्धिक गुणों का परिचय, उसकी सफलताओं और असफलताओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी अपेक्षित है। जीवनी लेखक प्राय: स्वयं मंच पर नहीं आता वरन वह अपने को सदैव नेपथ्य में रखकर ही लेखन करता है।

हिंदी में जीवनी साहित्य भारतेन्दु के समय से ही लिखे जाने लगे थे। भारतेन्दु काल में रचित जीवनियों में जीवनी साहित्य की अपेक्षित तटस्थता और कलात्मकता नहीं मिलती है। उन पर आख्यान का गहरा प्रभाव मिलता है। इसलिए उस युग की अधिकतर जीवनी ऐतिहासिक व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर लिखी गई। स्वयं **भारतेन्दु** ने कालिदास, रामानुज, जयदेव, सूरदास, शंकराचार्य आदि की जीवनियाँ लिखीं। भारतेन्दु द्वारा लिखी गई जीवनियाँ 'बादशाह दर्पण' और 'चरितावली' में संकलित हैं। **कार्तिक प्रसाद खत्री** ने अहिल्याबाई, छत्रपति शिवाजी और मीरा बाई के जीवन चरित लिखे। **राधकृष्णदास** ने श्री नागरीदास जी के जीवन चरित की रचना की। परिमाण की दृष्टि से देखा जाए तो भारतेन्दु युग में अत्यधिक जीवनी साहित्य मिलता है, परंतु वास्तविक अर्थ में वे जीवनी न होकर आख्यान हैं।

द्विवेदी युग में **शिवनंदन सहाय** कृत हरिश्चंद्र का जीवन चरित, गोस्वामी तुलसीदास का जीवन चरित और चैतन्य महाप्रभु का जीवन चरित उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। परंतु इन कृतियों में तटस्थता और निष्पक्षता का अभाव मिलता है जीवनी के लिए तथ्यों के जितने प्रमाण की आवश्यकता होती है उसका भी अभाव झलकता है। द्विवेदी युग में आर्य समाज प्रवर्तक दयानंद तथा अन्य महापुरुषों से संबंधित जीवनी साहित्य लिखा गया। **अखिलानंद शर्मा** ने दयानंद सरस्वती के जीवन के विविध पहलुओं को उभारने का प्रयत्न किया। लोकमान्य तिलक, मदनमोहन मालवीय आदि की जीवनी भी लिखी गई। विदेशी महापुरुषों में नेपोलियन

बोनापार्ट की सर्वाधिक जीवनी लिखी गई। **गौरीशंकर ओझा** ने कर्नल टॉड की जीवनी लिखी। ऐतिहासिक नारियों में नूरजहाँ, रानी दुर्गावती आदि की जीवनियाँ लिखी गईं। द्विवेदी युग में ऐतिहासिक पात्रों की जीवनी की ओर लेखकों का रुझान अधिक था। ऐतिहासिक पात्र को अपने कल्पना के अनुसार रच देना द्विवेदी युग के जीवनी साहित्य की सीमा है।

द्विवेदी युग के बाद के जीवनी लेखन में उद्बोधन का स्वर प्रमुख हो चला था। इस युग में विशेषकर उन्हीं चरित्रों की जीवनी लिखी गई जो राष्ट्रीय आंदोलन में प्रेरणा देने वाले थे। इसलिए तिलक, गांधी और नेहरू की जीवनी कई लेखकों ने लिखी। ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने बाल गंगाधर तिलक पर लिखा। राम नरेश त्रिपाठी ने गांधी की जीवनी लिखी। गणेश शंकर विद्यार्थी ने जवाहर लाल नेहरू की जीवनी लिखी। द्विवेदी युग में आदर्शवाद की स्थापना मुख्य चिंता का विषय था। इसलिए जीवनी लेखन में भी उसी बिन्दु को आधार बनाया गया।

स्वातंत्र्योत्तर युग का जीवनी साहित्य अधिकतर राजनीतिक व्यक्तियों से ही संबद्ध है। लगभग सभी नेताओं पर जीवनी लेखन किया गया। उनकी सूची बहुत लंबी है। उन सभी साहित्य की रचना की चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। कुछ महत्वपूर्ण साहित्यिक व्यक्तियों की जीवनी लिखी गई जिनका हमारे साहित्य में विशिष्ट महत्व है। इस प्रकार की जीवनी में 'प्रेमचंद घर में' शिवरानी देवी की उल्लेखनीय कृति है। इसमे प्रेमचंद के जीवन के संघर्षों को ईमानदारी से प्रस्तुत किया गया है। 'कलम का सिपाही' अमृतराय द्वारा रचित महत्वपूर्ण कृति है। इस कृति को उपन्यास की तरह रोचक बनाकर लिखा गया है। लेखक बहुत हद तक तटस्थ होकर अपने नायक का मूल्यांकन करने में सफल हुआ है। इस कृति में प्रेमचंद के वैचारिक और संवेदनात्मक विकास को तत्कालीन परिवेश के बीच से रचने का प्रयत्न किया गया है। प्रेमचंद की साहित्यिक समृद्धि और व्यक्तिगत अभाव को वस्तुनिष्ठता से दर्शाने की कोशिश में रचनाकार सफल रहा है। 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' अमृतराय की अन्यतम उपलब्धि है। जीवनी रचना की दूसरी महत्वपूर्ण कृति डॉ० रामविलास शर्मा की कृत 'निराला की साहित्य साधना' है। इस कृति में निराला के स्वभाव, अनुभूति, साहित्य रचना, प्रखर व्यक्तित्व को एक साथ समेटने का प्रयत्न किया गया है। निराला के जीवन के संघर्षों, अभावों और दु:खों को आत्मीयता से लेखक ने रचा है। निराला के निरालापन को विश्वसनीयता से अंकित करने में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है।

विष्णु प्रभाकर की कृति 'आवारा मसीहा' में शरत्चंद के जीवन का वर्णन किया गया है। शरत्चंद के जीवन के एक-एक सूत्र को जोड़कर लेखक ने उनकी भावयात्रा को अंकित करने का जोखिम उठाया है। इसके बावजूद कृति में कहीं भी पैबंद नहीं दिखाई पड़ता है। पूरी रचना में विश्वसनीयता के प्रमाण मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त शांति जोशी द्वारा लिखित 'सुमित्रानंदन पंत - जीवनी और साहित्य' तथा राजकमल की कृति 'शिखर से सागर तक' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। 'शिखर से सागर तक' में अज्ञेय की जीवनी को लिखा गया है। इस कृति में चरित नायक को युग संदर्भ और व्यक्तिगत पृष्ठभूमि के माध्यम से समझने की कोशिश की गई है।

23.3.4 आत्मकथा

जीवनी में रचनाकार और नायक अलग-अलग व्यक्ति होता है। आत्मकथा में रचनाकार और नायक की भूमिका एक ही व्यक्ति की होती है। आत्मकथा में स्वयं के अनुभव को वर्णित करना होता है। आत्मकथा में तटस्थ और निरपेक्ष रहने की बहुत बड़ी चुनौती होती है। आत्मकथा के लिए आवश्यक है कि लेखक एक ऐसी अलोचनात्मक दृष्टि का विकास करे जिससे वह आत्मप्रशंसा और आत्मवेदना के भाव से बच सके। आत्मकथा का उद्देश्य अपने जीवनानुभव से दूसरों को परिचय कराना होता है। जीवन के कुछ ऐसे अनसुलझे रहस्य होते हैं जो आत्मकथा में ही लिखे जा सकते हैं। आत्मकथा में रचनाकार को स्वयं का मूल्यांकन करना होता है। स्वयं अपना मूल्यांकन करना बहुत ही कठिन कार्य है।

बनारसीदास की रचना 'अर्धकथा' को हिन्दी की प्रथम आत्मकथा माना जाता है। यह रचना काल खंड की दृष्टि से मध्यकालीन साहित्य का अंग है, परन्तु रचना में आत्मकथात्मक तत्व होने के कारण उसे हिन्दी की प्रथम आत्मकथा स्वीकार किया गया है। इस आत्मकथा के बाद मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में किसी

दूसरी आत्मकथा का प्रारूप उपलब्ध नहीं होता है। अन्य गद्य विधाओं की भांति आत्यकथा को भी आधुनिक जीवन और साहित्य की उपज माना जाता है। भारतेन्दु ने 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। इस आत्मकथा में उन्होंने अपने जीवन की रोचक घटनाओं को वर्णित किया है। इस युग के दूसरे महत्वपूर्ण आत्मकथा लेखक के रूप में राधाचरण गोस्वामी का नाम प्रमुख है। श्री राधाचरण गोस्वामी ने अपने निजी जीवन के प्रथम कुछ वर्षों की चर्चा अपनी पुस्तक 'मेरा संक्षिप्त जीवन चरित्र' में की है, किन्तु पुस्तक के अत्यंत संक्षिप्त होने के कारण इन्हें आत्मकथा कहने की अपेक्षा आत्मकथात्मक प्रयास कहना अधिक उचित होगा। केवल ग्यारह पृष्ठों की इस पुस्तक से ही गोस्वामी जी के व्यक्तित्व की विशेषताओं का पता चलता है।

सरस्वती के कई अंकों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आत्मकथा से संबंधित कई लेख प्रकाशित किए थे। इसके अतिरिक्त इस युग में हरिभाऊ उपाध्याय ने महात्मा गांधी की आत्मकथा का हिन्दी में अनुवाद किया था। 'साधना के पथ पर' नाम से हरिभाऊ उपाध्याय की मौलिक आत्मकथात्मक कृति भी मिलती है। स्वतंत्रता से पूर्व जिन आत्मकथाओं ने हिन्दी साहित्य में अपना उल्लेखनीय स्थान बनाया है, वे हैं - लज्जाराम मेहता शर्मा की –आपबीती', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर', बाबू गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ', श्री राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन यात्रा' आदि। 'आप बीती' में लेखक ने बहुत सजगता के साथ अपने जीवन की कुछ सीमित एवं महत्वपूर्ण घटनाओं को प्रस्तुत किया है। ये सभी घटनाएँ क्रमबद्ध हैं। इन वृत्तांतों के द्वारा लेखक का व्यक्तित्व और तत्कालीन परिवेश जीवंत हो उठा है। 'अपनी खबर' में उग्र ने अपने आरंभिक इक्कीस वर्षों के जीवन को सच्चाई के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस कृति की भाषा अनूठी है। 'मेरी असफलताएँ' की भूमिका में बाबू गुलाबराय ने अपनी इस रचना को आत्मचरित कहा है। यद्यपि यह निबंध शैली में रची गई कृति है। इसमें लेखक ने ईमानदारी के साथ अपने आप पर भी तीखे कटाक्ष किए हैं जो आत्मकथा लेखन की विशेषता है। लेखक ने आत्मविश्लेषण करते हुए स्वीकृत किया है "लेखक भी मैं ठोंक पीटकर बना हूँ। प्रतिभा अवश्य है, परन्तु वह एक तिहाई से अधिक नहीं। मेरे लेखन में दो तिहाई परिश्रम और चोरी रहती है।'' राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन यात्रा' तीन खंडों में रचित है। अपने जीवन के घुमावदार रास्तों को उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है।

यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' नाम से खंडों में प्रकाशित हुई है। इस आत्मकथा में उन्होंने क्रांतिकारी जीवन की कहानी कही है। सत्यदेव परिव्राजक की आत्मकथा 'स्वतंत्रता की खोज में' में धनहीन और साधनहीन व्यक्ति की कहानी है। चतुरसेन शास्त्री की दो आत्मकथात्मक कृतियाँ 'यादों की परछाइयाँ' और 'मेरी आत्मकहानी' नाम से मिलती हैं। सेठ गोविन्ददास कृत 'आत्मनिरीक्षण' में राजनीतिक गतिविधियों और असहयोग आंदोलन का इतिहास दिया गया है। देवराज उपाध्याय की आत्मकथा 'बचपन के दो दिन' तथा 'यौवन के द्वार पर' प्रकाशित हुई है। इन कृतियों की रचना मनोवैज्ञानिक आधार पर की गई है।

पांडेय बेचन शर्मा उग्र की 'अपनी खबर' नामक आत्मकथा उत्कृष्ट रचना है। अपने आरंभिक इक्कीस वर्षों के जीवन को लेखक ने सच्चाई के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कृति की संवेदनशीलता को अनूठी भाषा शैली में प्रस्तुत किया गया है। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'नीड़ का निर्माण फिर', 'बसेरे से दूर' तथा 'दशद्वार से सोपान तक' शीर्षक चार भागों में बच्चन की आत्मकथा प्रकाशित हो चुकी है। चार भाग उनके जीवन के चार पड़ाव को सांकेतित करते हैं। बच्चन अपनी आत्मकथा को किस्सागो की शैली में सुनाते हैं। जीवन की सच्ची घटना का वर्णन करके वे आत्मकथा को और अधिक रोचक बना देते हैं। निजी जिंदगी की तस्वीर को इतनी स्पष्टता के साथ रखने का साहस बहुत कम लेखकों ने दिखाया है। व्यक्तिगत जीवन और रचनात्मक उपलब्धि के द्वन्द्व को लेखक सूझ-बूझ के साथ प्रस्तुत करता है। आत्मानुभव और जीवन की घटना को ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करना बच्चन की आत्मकथा की विशेषता है।

वृन्दावन लाल वर्मा की आत्मकथा 'अपनी कहानी' उनके जीवन संघर्षों और शिकारी जीवन की कहानी है। राजनीतिक और सामजिक व्यक्तियों की भी आत्मकथा प्रकाशित हुई, जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' का है। इसमें राजेन्द्र बाबू के त्यागमय जीवन की कहानी है। फिल्मी जीवन से संबंधित आत्मकथाओं में बलराज साहनी कृत 'मेरी फिल्मी आत्मकथा' का विशेष महत्व

है। इन आत्मकथाओं के अतिरिक्त हिंदी साहित्य में दूसरी भाषाओं के आत्मकथा का विशाल भंडार मिलता है। विभिन्न भाषाओं आत्मकथा साहित्य को हिंदी में अनूदित किया गया है।

23.3.5 यात्रा वृत्तांत

यात्रा वर्णन साहित्य की एक मान्य विधा है। साहित्य के अंतर्गत होने का मूल कारण यह है कि इसमें मानवीय संवेदना का शीतल स्पर्श है। यायावर में अनुभव की विविधता होती है यह अनुभव मानवीय विवेक को निर्मित करने में सहायक होते हैं। यात्रा वृत्तांत में सैलानी के अनुभवों की व्याख्या नहीं होती है। सैलानी एक निश्चित दृष्टिकोण के साथ निश्चित दर्शनीय स्थान को देखने जाता है। उसके अनुभव भी शास्त्रीय कोटि के होते हैं। एक यात्री यात्रा में अपने पड़ाव और ठिकानों के उन समस्त बिंदुओं का स्पर्श करने की कोशिश करता है जो वहाँ की प्रकृति, संस्कृति, इतिहास, स्थापत्य, रीति-रिवाज और कलात्मक विशिष्टता के कारण उसे अनुभूत हुए हैं। यात्रा में उल्लास और ऊर्जा का भाव है। यात्री की दृष्टि में सूक्ष्मता, संवेदनशीलता तथा भावुकता की पहचान होती है।

हिंदी में यात्रा वृत्तांत आधुनिक गद्य विधा के रूप में स्वीकृत है। भारतेन्दु ने अपने छोटे जीवन काल में देश के विविध क्षेत्रों की यात्रा की थी। उनकी जगन्नाथ यात्रा प्रसिद्ध है। यात्रा वृत्तांत के रूप में उन्होंने कुछ संस्मरण लिखे जिसमें 'सरयू पार की यात्रा', 'लखनऊ की यात्रा' तथा 'हरिद्वार की यात्रा' के नाम से लिखी गई टिप्पणियाँ महत्वपूर्ण हैं। भारतेन्दु युग में कुछ विदेश यात्रा के वृत्तांत मिलते हैं। परंतु यह सैलानी के वृत्तांत से कुछ अधिक नहीं हैं। द्विवेदी युग में यात्रावृत्तांत पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे। श्रीधर पाठक की देहरादून शिमला यात्रा' का उल्लेख यात्रा वृत्तांत के रूप में किया जा सकता है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक इस युग के सर्वाधिक महत्वपूर्ण यात्रा वृत्तांतकार हैं। 'अमरीका दिग्दर्शन', 'मेरी कैलाश यात्रा' तथा 'अमरीका भ्रमण' उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। 'मेरी कैलाश यात्रा' में हिमालय के प्राकृतिक सौन्दर्य का मोहक वर्णन मिलता है। 'यात्रा मित्र' में लेखक ने यात्रा की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए अपने यात्रा वर्णन को रोमांचक शैली में प्रस्तुत किया है।

घुमक्कड़ शास्त्र के लेखक राहुल सांकृत्यायन श्रेष्ठ यात्री रहे हैं। उनके यात्रा वृत्तांत में यात्रा में आने वाली कठिनाइयों के साथ उस स्थान की प्राकृतिक संपदा, उसका आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन तथा ऐतिहासिक अन्वेषण का तत्व उपस्थित होता है। 'किन्नर देश में', 'कुमाऊँ', 'दार्जिलिंग परिचय' तथा 'यात्रा के पन्ने' उनके ऐसे ही यात्रा ग्रंथ हैं। राहुल सांकृत्यायन की यह विशेषता है कि उनके यात्रा वृत्तांत में एक-एक सूक्ष्म ब्यौरे को रोचक शैली में दर्ज किया जाता है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'चाँद सूरज के बीरन' में लोक संस्कृति तथा लोक साहित्य को गीतात्मक रूप में प्रस्तुत किया है।

अज्ञेय के यात्रा वृत्तांत 'अरे यायावर रहेगा याद' और 'एक बूँद सहसा उछली' यात्रा साहित्य की महत्वपूर्ण रचना है। 'अरे यायावर रहेगा याद' में कवि की सूक्ष्मता, कहानीकार की रोचकता और यात्री के रोमांचक साहस को अज्ञेय ने बहुत ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। 'एक बूँद सहसा उछली' में यूरोप और अमरीका की यात्राओं का संस्मरण है। इसमें लेखक ने वहाँ की सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक तस्वीर को यात्रा के अनुभव की गहराई से रचने का प्रयास किया है। मोहन राकेश का यात्रा वृत्तांत 'आखिरी चट्टान' में दक्षिण भारत की यात्राओं का वर्णन है। प्रभाकर द्विवेदी की 'पार उतरि कहँ जइहौं' यात्रा वृत्तांत की एक सरस कृति है। इसमें स्थानीय बोली का पुट देते हुए बस्ती और गोंडा जिले के लोकजीवन को अंकित किया गया है। निर्मल वर्मा के 'चीड़ों पर चाँदनी' की चर्चा किए बिना यात्रा वृत्तांत को समाप्त करना अधूरा होगा। 'चीड़ों पर चाँदनी' में लेखक ने योरोप की यात्रा का वर्णन किया है। इसमें यात्रा के बहाने वहाँ के इतिहास, दर्शन और संस्कृति से लेखक का सीधा संवाद होता है। निर्मल वर्मा अपनी यात्रा में इतिहास परंपरा और संस्कृति आदि विषयों पर गहराई से अपने विचार व्यक्त करते हैं। उनके यात्रा वृत्तांत में संवेदनशीलता के साथ-साथ बौद्धिक साहस को आमंत्रित किया गया है।

23.3.6 रिपोर्ताज

रिपोर्ताज विधा पत्रकारिता क्षेत्र की विधा है। रिपोर्ट की कलात्मक अभिव्यंजना रिपोर्ताज को साहित्यिक बनाती है। रिपोर्ताज का संबंध वर्तमान से होता है। रिपोर्ताज में यथार्थ की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है।

रिपोर्ताज वर्णन में रचनाकार उत्सव, मेले, बाढ़, अकाल, युद्ध और महामारियों के दुख:सुख को जनता के निकट से देखता है। रचनाकार इन तथ्यों का तटस्थ वर्णन नहीं करके उसे मानवीय संवेदना के अनुकूल प्रस्तुत करता है। जनता के सुख:दुख रिपोर्ताज में आकर हृदयस्पर्शी हो जाते हैं। किसी घटना की प्रामाणिकता को सुरक्षित रखते हुए उसे संवेदनशील रूप में प्रस्तुत करना रिपोर्ताज लेखक का उद्देश्य होता है।

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। इस वैज्ञानिक युग में कोई भी कम से कम समय में देश काल की परिस्थितियों, वातावरण आदि से परिचित होना चाहता है। यों तो जनता को समस्त राजनीतिक सांस्कृतिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा आर्थिक जगत की खबरें समाचार पत्र की रिपोर्ट के माध्यम से सूचित हो जाती हैं। परन्तु उसमें आकर्षण न होने के कारण कोई उन्हें रुचि से नहीं पढ़ता है। 'रिपोर्ताज' इन सारी घटनाओं को कलात्मक उपकरणों से सुसज्जित करके इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वे अत्यन्त प्रभावपूर्ण रुचिकर एवं यथार्थता से परिपूर्ण दिखाई पड़ती हैं। इसी कारण पाठक उसे रुचिपूर्वक पढ़ता है। यह अपने लघु आकार के बावजूद भी समुचित शब्द चयन और मार्मिक प्रस्तुतीकरण के कारण अत्याधिक प्रभावपूर्ण और महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

हिंदी साहित्य में रिपोर्ताज लेखन की शुरुआत 1936 के आस-पास हुई थी 1938 में रूपाभ पत्रिका के लिए शिवदान सिंह चौहान का रिपोर्ताज 'लक्ष्मीपुरा' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। 'मौत के खिलाफ जिंदगी की लड़ाई' नाम से चौहान जी का दूसरा रिपोर्ताज हंस पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। रिपोर्ताज विधा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान रांगेय राघव का है। 'तूफानों के बीच' (1946) उनका महत्वपूर्ण रिपोर्ताज संग्रह है। इस रिपोर्ताज में बंगाल के अकाल का मार्मिक चित्रण है। बंगाल का अकाल लेखक के लिए मात्र घटना नहीं है। लेखक उसमें भोक्ता और द्रष्टा भी है। अकाल का चेहरा और भी क्रूर हो जाता है जब अकाल प्राकृतिक विपदा न होकर साम्राज्यवादी शोषण का प्रतिफल बनकर उभरता है। उस अदम्य मानवीय साहस के प्रति लेखक अपनी आस्था को अभिव्यक्त करता है जो उसे विपत्ति से जूझने के लिए प्रेरित करते हैं।

रामनारायण उपाध्याय के रिपोर्ताज 'गरीब और अमीर पुस्तकों में' में लेख और जर्नल के तत्व मिले हुए हैं। इसे व्यंग्यात्मक शैली में लिखा गया है। उपेन्द्रनाथ अश्क के रिपोर्ताज 'रेखाएँ और चित्र' में संकलित है। 'ऋण जल धन जल' तथा 'नेपाली क्रांति कथा' फणीश्वरनाथ रेणु के प्रसिद्ध रिपोर्ताज हैं। 'ऋण जल धन जल' में बिहार के अकाल प्रभावित सूखाग्रस्त क्षेत्रों का विवरण है तथा 'नेपाली क्रांति कथा' में नेपाल में लोकतंत्र की स्थापना के लिए हुए आंदोलनों का वर्णन है। धर्मवीर भारती के 'युद्धयात्रा' में पाकिस्तान के युद्ध का वर्णन है। 'प्लाट का मोर्चा' शमशेर बहादुर सिंह की उल्लेखनीय रिपोर्ताज कृति है।

23.3.7 साक्षात्कार

इंटरव्यू या साक्षात्कार गद्य विधा की नवीन उपलब्धि है। इंटरव्यू का प्रसार व्यावसायिक पत्रिकाओं में ही नहीं हुआ है, अपितु साहित्यिक विधाओं में भी साक्षात्कार का महत्व बढ़ रहा है। साक्षात्कार साहित्य की एक लोकप्रिय विधा के रूप में प्रस्तावित हुई है। समयाभाव में पाठक साक्षात्कार के माध्यम से ही व्यक्ति का विचार तर्क और अनुभव जानना चाहता है। संवाद शैली के कारण साक्षात्कार की संप्रेषणीय संभावना अधिक होती है साक्षात्कार की परंपरा भारतेन्दु से शुरू होती है। पं० राधाचरण गोस्वामी ने भारतेन्दु से प्रश्न पूछे थे और उनके प्रश्नोत्तर को प्रकाशित किया था। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी के दो साक्षात्कार 'रत्नाकर जी से बातचीत' तथा 'प्रेमचंद के साथ दो दिन' विशाल भारत में सितंबर, 1931 तथा जनवरी, 1932 में प्रकाशित हुए थे। 1939 में प्रभाकर माचवे ने जैनेन्द्र कुमार तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साक्षात्कार लिये थे जो जैनेन्द्र के विचार' नामक पुस्तक में संकलित हैं। पाँचवे दशक में बेनीमाधव शर्मा विरचित 'कवि दर्शन' साक्षात्कार साहित्य की प्रथम स्वतंत्र कृति मानी जाती है। इसमें तत्कालीन साहित्यकार मैथिलीशरण गुप्त, रामचंद्र शुक्ल आदि के साक्षात्कार हैं। पद्म सिंह शर्मा कमलेश का साक्षात्कार 'मैं इनसे मिला' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इसमें कृतिकारों को समकालीन जीवन दर्शन के संदर्भ में समझने का प्रयत्न किया गया है।

परवर्ती साक्षात्कार साहित्य में 'अपरोक्ष' नाम से प्रकाशित पुस्तक में अज्ञेय के आठ साक्षात्कार संकलित हैं। इसमें अज्ञेय के चिंतन और सृजन की मनोभूमि स्पष्ट होती है। श्रीकांत वर्मा का आक्तोवियो पॉज से लिया गया इंटरव्यू साक्षात्कार साहित्य का प्रतिमान है। इस साक्षात्कार में बीसवीं सदी की बौद्धिक स्थिति पर बहस की गई है। श्रीकांत और पॉज दोनों प्रखर बुद्धिजीवी हैं। दोनों के संवादों में समकालीन विश्व के परिदृश्य को विभिन्न कोणों से समझने का प्रयत्न मिलता है। इसी प्रकार निर्मल वर्मा से अशोक वाजपेयी और मदन सोनी द्वारा इंटरव्यू लिया गया था। पूर्वाग्रह पत्रिका के निर्मल वर्मा विशेषांक में वह साक्षात्कार प्रकाशित हुआ है। निर्मल वर्मा समकालीन विश्व की वैचारिक स्थितियों को स्पष्ट करते हुए अपने सृजन परिवेश को अभिव्यंजित किया है। नामवर सिंह और रामविलास शर्मा के साक्षात्कार भी प्रकाशित हो चुके हैं।

23.3.8 डायरी

डायरी वस्तुतः व्यक्ति की अपनी निजी सम्पत्ति है। किन्तु डायरी हस्तलिखित रूप में प्रकाशन के उपरान्त सामान्य पाठक के लिए सुलभ हो जाती है, इस प्रकार उसकी वैयक्तिकता समाप्त हो जाती है। वह साहित्य संसार की सम्पत्ति हो जाती है। डायरी कितनी लोकप्रिय है यह डायरी लेखक की महानता और लोकप्रियता पर निर्भर होता है। वस्तुतः डायरी के पृष्ठों पर डायरी लेखक की आत्मा का प्रकाश होता है। यदि आप किसी के निकटतम होना चाहते हैं, उसके अंतरंग होना चाहते हैं, उसे उसके अंतर्तम से पहचानना चाहते हैं, तो उसकी डायरी के पन्नों को पढ़ें। निश्चित ही आप उसके व्यक्तित्व से भली भाँति परिचित हो जाएँगे। आज डायरी एक नई साहित्यिक विधा बन गई है। डायरी इसलिए डायरी नहीं होती कि उसमें ऊपर रेखा के पास तिथि का उल्लेख रहता है, वरन् डायरी गद्य लेखन की एक विशिष्ट कला है जो लेखक की तीखी प्रतिक्रिया और असामान्य किन्तु विशिष्ट रुचि की प्रतीक होती है। उसमें लेखक के आंतरिक संसार का छायाचित्र मिलता है।

स्वतंत्र रूप से डायरी साहित्य की रचना हिन्दी में बहुत अधिक नहीं हुई है। फिर भी कई कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। घनश्यामदास बिड़ला की डायरी का प्रकाशन 'डायरी के पन्ने' नाम से हुआ है। इस विधा की अन्य उल्लेखनीय कृतियों में सुन्दरलाल त्रिपाठी की 'दैनन्दिनी' डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की 'मेरी कालिज की डायरी सियारामशरण गुप्त की 'दैनिकी' हैं। मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' में विचारक के मंथन का तनाव प्रकट होता है। शमशेर की डायरी में उनके रोमांटिक मिजाज की अनुभूति मिलती है। मोहन राकेश की डायरी में उनके जीवन संघर्षों का वर्णन मिलता है। मोहन राकेश की डायरी उनके निजी जिंदगी की पर्तों को खोलती प्रतीत होती है। इससे उनकी निजी जिंदगी और सृजनात्मक रचना के बीच की अन्विति को क्रमिक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

23.4 सारांश

निबंध तथा अन्य गद्य विधाओं की इस इकाई को पढ़ने के बाद आप गद्य की विविध विधाओं के ऐतिहासिक संदर्भ को समझ गए होंगे। साहित्यिक कालखंड में विधाओं के अंतर्गत जो परिवर्तन हुए हैं, उससे भी आप परिचित हो गए होंगे। इस इकाई में हमने निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, रिपोर्ताज, साक्षात्कार और डायरी विधा की महत्वपूर्ण रचनाओं के संबंध में भी जानकारी दी है। इन विधाओं की विकास यात्रा को समझने के साथ-साथ आप विधाओं के उद्देश्य को भी समझ गए होंगे।

23.5 अभ्यास प्रश्न

1. विविध युगों के संदर्भ में निबंध की विकास यात्रा को रेखांकित करें।
2. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणी लिखें:
   - क) रेखाचित्र
   - ख) संस्मरण
   - ग) जीवनी
   - घ) आत्मकथा

इकाई 24 उर्दू साहित्य का परिचय

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

उर्दू भाषा की उत्पत्ति एवं साहित्य का सृजन हमारी अपनी मातृभूमि की कोख से हुआ। इस भाषा का साहित्य हिन्दी भाषा के साहित्य पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए नितांत आवश्यक है। इससे उन्हें न केवल उर्दू साहित्य के विकास क्रम के संबंध में ज्ञान प्राप्त होता है बल्कि हिन्दी साहित्य के समानांतर चल रहे इस साहित्य की प्रमुख विधाओं तथा शैलियों की भी जानकारी प्राप्त होती है। वस्तुत: उर्दू साहित्य के विकास ने हिन्दी साहित्य को चहुँमुखी उन्नति प्राप्त करने में महत्पवूर्ण सहयोग दिया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- उर्दू भाषा की उत्पत्ति की जानकारी दे सकेंगे;
- उर्दू साहित्य में पद्य लेखन के प्रारंभ और विकास को बता सकेंगे;
- दिल्ली तथा दिल्ली के बाहर के उर्दू साहित्य के विकास की चर्चा कर सकेंगे;
- उर्दू साहित्य में गद्य लेखन का परिचय दे सकेंगे; और
- उर्दू साहित्य में हुए शोधकार्यों को बता सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

उर्दू भाषा भारतीय भाषाओं, बोलियों तथा फ़ारसी-अरबी-तुर्की एवं अन्य उप-भाषाओं से बनी एक मिश्रित भाषा है। इसकी उत्पत्ति एवं विकास की लंबी यात्रा लगभग हज़ार वर्ष पूर्व प्रारंभ हुई। इस यात्रा का मार्ग अफ़ग़ानिस्तान, पंजाब, कश्मीर से लेकर उत्तर दक्षिण भारत के बृहत प्रदेश का विशाल क्षेत्र बना। इस भाषा के साहित्य निर्माण में भारतीय एवं अभारतीय दोनों तत्व विद्यमान हैं। भारतीय तत्वों की बहुलता के कारण इसमें तथा हिन्दी साहित्य में कुछ समानताएँ झलकती हैं। बीसवीं सदी में उत्पन्न विभिन्न विचारधाराओं का अनुसरण उर्दू-हिन्दी लेखकों ने क़दम से क़दम मिलाकर एक साथ किया है, प्रगतिशील लेखकों का संगठन इसी का उदाहरण है। लेकिन उनमें अनेक असमानताएँ भी हैं। अत: हिन्दी साहित्य के पाठक के लिए आवश्यक है कि वह उर्दू साहित्य से परिचित हों। इसी आशय की पूर्ति के लिए प्रस्तुत इकाई में आपको उर्दू साहित्य की प्राथमिक जानकारी संबंधी सामग्री उपलब्ध कराई गई है।

24.2 उर्दू भाषा की उत्पत्ति

किसी भी भाषा की उत्पत्ति का निश्चित समय तय नहीं किया जा सकता। भाषा एक क्रिया रूपी चक्की है जो सदैव गतिमान रहती है। उसके गतिमान रहने पर ही वह सजीव प्रतीत होती है अन्यथा निर्जीव भाषा, क्षेत्र अथवा वर्ग विशेष की संस्कृति को भी ह्रासोन्मुख कर देती है।

उर्दू भाषा की उत्पत्ति भी ऐतिहासिक स्थितियों के परिवर्तन स्वरूप संभव हुई। विजयी क़ौमों का पराजित क्षेत्रों की संस्कृति पर प्रभाव अपरिहार्य रहा है, इस तथ्य को नकारात्मक दृष्टिकोण की बजाए सकारात्मक नज़रिए से भी देखा जा सकता है। विभिन्न संस्कृतियों के आपसी लेन-देन से या तो नई संस्कृतियों का जन्म होता है अथवा विद्यमान संस्कृतियों में अभूतपूर्व परिवर्तन आते हैं। भारत देश में ऐसे कई परिवर्तन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने को मिलते हैं।

भारत में इस्लाम धर्म का आगमन 1000 वर्ष अथवा इससे कुछ अधिक (अगर सिंध पर अरबों के आक्रमण को प्रभावशाली माना जाए) समय पूर्व विभिन्न सैन्य एवं असैन्य (सूफ़ी. व्यापारी एवं साहित्यिक विभूतियाँ) लोगों के प्रवेश के साथ हुआ।

भारत के विभिन्न वर्गों की स्थानीय भाषा में नई आगमनकारी कौम की भाषा का मिश्रित होना प्राकृतिक था। 1000 ई. पू. जो अपभ्रंश भारत में प्रचलित थी उसमें नई शक्तियों की प्रभावकारी भाषा, सैन्य छावनियों में अथवा छावनियों से संलगित बाजारों में माध्यम की भाषा, मिश्रित भाषा थी इसीलिए उर्दू कहलाई। भारत का उत्तरी क्षेत्र विशेषत: बृहत् पंजाब, राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश सर्वप्रथम इस मिश्रित भाषा का विकास पटल बना। इसका नाम हिंदुस्तानी अथवा हिंदवी पड़ने का कारण भी यही है कि पारिभाषिक रूप में उत्तरी भारत ही बृहत भारत का वह क्षेत्र था जो हिंदुस्तान कहलाता था। अत: नई उभरती भाषा पर इन क्षेत्रों की भाषाओं एवं बोलियों का प्रभाव अपरिहार्य था, इनमें पंजाबी, सिंधी, हरियाणवी, बागरू, ब्रज, खड़ी बोली मुख्य रहीं। दूसरी धारा इस्लाम धर्म की भाषा अरबी की थी जिसके प्रभाव से तीन शताब्दी पूर्व अर्थात सातवीं-आठवीं सदी में पहलवी भाषा की लिपि के स्थान पर अरबी अर्थात सामी लिपि का प्रयोग किया गया तथा इस परिवर्तन से फ़ारसी भाषा का प्रारूप बना। यद्यपि वाक्य-विन्यास वही रहा मगर धर्म-संबंधी पारिभाषिक शब्दावली का प्रवेश भी आवश्यक था। इसी प्रकार तुर्की एवं अन्य भाषाओं का रूप भी बदला। उर्दू के विकास में अरबी भाषा, उसकी लिपि एवं साहित्य का प्रभाव स्वाभाविक था। नई शक्तियों की भाषा में तुर्की, उज़बेक तथा मध्य एशिया एवं सुदूर अफ़गानिस्तान के क्षेत्रों की भाषाओं तथा उप-भाषाओं के अनेक शब्द भी शामिल थे। यही मिश्रण उर्दू भाषा के जीवट पेड़ का बीज था। दोनों धाराओं के इस मिश्रण से निर्मित भाषा में जन-साहित्य भी शीघ्र ही लिखा जाने लगा।

24.3 उर्दू साहित्य लेखन : पद्य

साहित्य लेखन की मुख्य धाराएँ गद्य और पद्य होती हैं। उर्दू में साहित्य लेखन के प्रारंभिक कवि का कालदृष्टि से तो निश्चित नाम लेना कठिन है क्योंकि कालगति की आंधी ने सदैव चल-संपत्ति का अधिकतम नुकसान पहुँचाया है। आइए, उर्दू काव्य लेखन के प्रारंभिक चरण पर चर्चा करें

24.3.1 उर्दू काव्य लेखन का प्रारंभिक चरण

यह सत्य है कि जैसे संस्कृत संभवत: कभी भी जनसाधारण में बोलचाल की भाषा नहीं रही उसी तरह फ़ारसी की सीमाएँ भी दरबारी कामों के इर्द-गिर्द ही सीमित रहीं। जो साहित्य फ़ारसी भाषा में (हिंदुस्तान में) लिखा गया उसकी रचना अधिकांशत: दरबारी कवियों द्वारा हुई। सूफ़ी संतों की फ़ारसी रचनाएँ जनसाधारण के लिए नहीं अपितु विद्या के धनी वर्ग के लिए थीं। उनमें भी हिंदवी भाषा की भरमार देखी जा सकती है इसीलिए शुरू की कुछ शताब्दियों में जिन सूफ़ियों के वाणी-संग्रह (मलफ़ूज़ात) मिलते हैं वे ताज़ा-ताज़ा हिंदुस्तान में आए थे। उनकी भाषा फ़ारसी या मध्य एशिया की फ़ारसी-प्रभावित भाषा थी। आने वाली शताब्दियों में सूफ़ियों ने देशज भाषाओं का ज्ञान ग्रहण कर स्वयं के लिए नया माध्यम ढूँढ़ा था। इसीलिए उर्दू अथवा हिंदवी में आरंभिक काव्य का अधिकांश सरमाया सूफ़ी संतों की वाणी है जिसके रचनाकाल को भक्तिकाल से संबंधित किया जाता है।

उर्दू-हिन्दवी काव्य की प्रथम आधार-शिला का श्रेय लाहौरवासी मसऊद साद सुलेमान को दिया जाता है। मसऊद साद सुलेमान जिस पर गज़नवी दरबार की गाज भी पड़ी उसने फ़ारसी भाषा में जेल काव्य (हब्सीया शायरी) की नींव डाली। उसके अपने कथनानुसार उन्होंने हिंदवी भाषा में भी काव्य रचना की लेकिन अभी तक यह काव्य उपलब्ध नहीं हो पाया है। सूफ़ीजनों के देशव्यापी भ्रमण ने भी उर्दू भाषा के विकास में यथायोग्य उन्नति प्रदान की। मुसलमान नरेशों की बढ़ती हुई सीमाओं ने इस भाषा को उत्तर भारत तक ही सीमित न रखा। अलाउद्दीन खिलजी (1296 - 1317 ई०) के काल में इस्लाम का प्रभाव सैन्य, असैन्य तथा सूफ़ीजनों द्वारा दक्षिण तक पहुँचा दिया गया।

मुहम्मद तुगलक को भले ही राजनैतिक दृष्टि से दौलताबाद राजधानी स्थानांतरित करना महंगा पड़ा हो लेकिन उर्दू भाषा को दक्षिण ले जाने का मूल श्रेय उसी को जाता है।

दक्षिण जाने से पूर्व उर्दू भाषा को उसका यथोचित स्थान दिलाने में अमीर खुसरो (मृ. 1325 ई०) का योगदान अविस्मरणीय है। हालाँकि उनके उर्दू अथवा हिंदवी काव्य के उपलब्ध संस्करणों पर विभिन्न राय है, लेकिन यह सर्वमान्य है कि भारत देश का सही परिचय तथा उसकी विशेषता का उल्लेख अमीर खुसरो के द्वारा ही हुआ (विवरण के लिए देखिए नूह-सिपहर तृतीय अध्याय)। उनके फारसी काव्य में अनेक हिंदवी शब्द विद्यमान हैं। वास्तव में अमीर खुसरों को फ़ारसी साहित्य में अपना स्थान बनाने में हिंदवी भाषा तथा उसके साहित्य एवं रसों ने भरपूर साथ दिया है। उन्होंने अपने हिंदवी काव्य में भी भारतीय संस्कृति का ही सहारा लिया है। उनकी प्रेमिका भारतीय है उसकी भाव-भंगिमा, वेशभूषा तथा चाल ढाल सब स्थानीय है। उनका प्रसिद्ध शेर है :

> गोरी सोवै सेज परं, मुख पर डारे केस।
>
> चल खुसरो घर आपने, रैन भई सब देस।।

उनके इस शेर में भी भारतीय वातावरण की अभिव्यक्ति है। उन्होंने अपने तृतीय फ़ारसी काव्य ग्रंथ 'गुर्रत-उल-कमाल' के प्राक्कथन में यह लिखा है कि -

> चु मन तूतिए-हिन्द्म, अर रास्त पुर्सी
>
> जे मन हिन्दुई पुर्स ता नग़्ज़ गोयम

"मैं हिंदुस्तान का तोता हूँ (फ़ारसी में तोते को तूती कहते हैं) अगर तुम सच पूछो तो मुझसे हिंदवी में प्रश्न करो तो देखो मैं कितनी मिठास से बताता हूँ।"

खुसरो ने हिंदवी भाषा की प्रशंसा अपने फ़ारसी काव्य में कई स्थानों पर की है। लेकिन यह भी याद रखना आवश्यक है कि अमीर खुसरो ने अपनी फ़ारसी रचनाओं में हिंदवी शब्द को कई अर्थों में प्रयुक्त किया है। प्राय: हिंदी लेखकगण इसे केवल हिंदी भाषा के लिए समझते हैं, यह सही नहीं। अमीर खुसरो ने इस शब्द का प्रयोग संस्कृत के लिए भी किया है। अमृत राय ने अपनी पुस्तक "दी हाउस डीवाईडेड" में इसे केवल हिंदी भाषा के लिए बताया है वह गलत एवं भ्रमकारी है।

अमीर खुसरो ने सात बादशाहों के दरबार देखे, अनेक यात्राएँ कीं। उनके काल तक उर्दू भाषा की नींव-स्थापना हो चुकी थी। उसी नींव से भव्य भवन का निर्माण शुरू हुआ। खिलजी काल में दक्षिणी सीमाओं को लाँघना किसी विदेशी के द्वारा संभव नहीं था। मूल निवासी केन्द्रीय सेनाओं में भर चुके थे चाहे उनका धर्म परिवर्तन हुआ हो या नहीं। उनकी स्थानीय भाषाएँ विकासोन्मुख उर्दू भाषा के धारे में अपना यथोचित योगदान दे रही थीं। इनमें अवधी, मगधी, मराठी, तेलुगू, गुजराती के नाम उल्लेखनीय हैं। खुसरो ने इनमें से अधिकांश का उल्लेख अपने काव्य में किया है। जिसका अर्थ है कि इन भाषाओं के शब्दभंडार में से कई मोती उर्दू के ताज में जुड़ चुके थे।

24.3.2 उर्दू साहित्य का दक्षिणी भारत में उद्घटन

खिलजियों के तदुपरांत तुगलक शासकों के काल में स्थानीय सैन्य संबंधों ने उत्तर भारत में पनपती उर्दू भाषा को माध्यम के रूप में प्रोत्साहन प्रदान किया। 1348 ई. में गंगू ब्राह्मण के नाम पर बहमनी शासन की नींव पड़ी। अर्थात मुसलमान शासकों ने दक्षिण में राज्य स्थापना के लिए हिंदुओं को पूर्णतया भागीदार बनाया। माध्यम की भाषा भी उर्दू बनी जो दक्षिणी भाषाओं विशेषत: तेलगू, मराठी एवं कन्नड़ में खड़ी बोली (उत्तरी भारतीय सैनिकों की) तथा फ़ारसी-अरबी (शासकीय वर्ग तथा सूफी वर्ग की पारिभाषिक शब्दावली) का मिश्रण थी। सूफी-संतों की भाषा का रूप भी यही थी। अत: दक्षिण में सर्वप्रथम इस भाषा को शासकीय संरक्षण तथा सूफी-संतों द्वारा सामाजिक अस्तित्व प्रदान किया गया।

दक्षिण में उर्दू साहित्य का जो प्रारंभिक रूप नज़र आता है वह अधिकांश धार्मिक, नैतिक तथा मानवता वाद पर आधारित है। इनमें ख्वाजा गेसूदराज के अतिरिक्त शाह बहाऊद्दीन बाजन बुरहानपुरी, मीरान जी, निज़ामी, फ़िरोज अहमद अशरफ, आला आदि प्रमुख रहे हैं। इन सभी की कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं। मीरान जी एवं बाजन की रचनाओं में दक्किनी का फ़ारसी मिश्रित रूप उर्दू के प्रारंभिक विकास चिन्हों को इंगित करता है। उपलब्ध सामग्री में निजामी की कदम राव पदम, अशरफ की 'नौसिर हार' तथा फिरोज़ को 'तौसीफ नामा' है।

बहमनी राज्य के बिखरने के उपरांत आदिल शाही कुल के अधिकांश बादशाह योग्य एवं सदाचारी थे। सूफियों की संगत उन्हें प्राप्त थी। प्रसिद्ध सूफी शाह मीरान जी, शमसुल उश्शक (मृ० 1946) की प्रसिद्ध रचनाएँ शहादुतल हक़ीक़त (पद्य) तथा शरहे-मरगूबुल-कुलूब तसुव्वुफ के मैदान की महत्व पूर्ण रचनाएँ हैं। आदिल शाही बादशाह स्वयं कविता कहते थे। संगीत इब्राहीम आदिल शाह (1580–1636 ई०) की मशहूर कृति 'नौरस' ब्रज भाषा मिश्रित उर्दू की अनुपम मिसाल है। इसका प्राक्कथन फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि जहुरी तरशीजी ने लिखा है। इसी प्रकार आदिल शाही कुल के ही बादशाह इब्राहीम आदिल शाह द्वितीय के काल में नुसरती जैसा महान कवि हुआ। उसकी रचना 'गुलशने इश्क़' में मनोहर और मधुमालती के प्रेम को मसनवी (प्रबंध काव्य) में काव्य बद्ध किया है। फिरदौसी के शाहनामें की शैली में 'अली नामा' लिखा गया। यह आदिल शाहियों एवं मुगलों की लड़ाइयों के वर्णन पर आधारित है। मुल्ला हाशिमी जन्म से ही सूरदास था। एक अन्य कवि रूस्तमी भी स्मरणीय है उनकी मसनवी 'खावर नामा' दास्ताने अमीर हमज़ा की शैली पर लिखी हुई है। उल्लेखित कवियों की रचनाओं से पता लगता है कि फारसी काव्य रूपों और विषयों का भरपूर प्रभाव इस प्रारंभिक काल की रचनाओं पर था।

यह उल्लेखनीय है कि इन रचनाओं में शब्द उर्दू अथवा दक्खिनी के स्थान पर देहलवी, गूजरी हिंदवी प्रयुक्त हुआ।

24.4.3 दक्षिण के शासकीय वर्ग का उर्दू साहित्य के विकास में योगदान

आदिलशाही कुल की भांति गोलकुण्डा का कुतुबशाही कुल भी साहित्य के प्रोत्साहन में किसी प्रकार पीछे नहीं था। इस कुल का श्रेष्ठ बादशाह सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुब शाह (मृ० 1611 ई०), जिसका तख़ल्लुस (उपनाम) 'मआनी' था, स्वयं साहिबे-दीवान (जिसका काव्य संग्रह) रहा है। उसे दक्षिण की देशज भाषाओं के अलावा इस्लामी भाषाओं (अरबी, फारसी, तुर्की)का भी पूर्ण ज्ञान था। वास्तुकला में उसकी खास रुचि थी। उसने अपनी हिंदू रानी भागमती के नाम पर भागनगर (वर्तमान हैदराबाद) बसाया था। उसके काव्य-संग्रह में विभिन्न रूपों में विषयों की विविधता के अनुपम नमूने देखे जा सकते हैं। हक़ीक़त यह है

कि उसके पूर्व की जितनी उर्दू काव्य की सामग्री दस्तयाब है उसमें केंद्रीय विषय मुख्यत: अध्यात्म ही रहा। कुली कुतुबशाह ने साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन अपने भाव्यात्मक भावों में किया है। उसके यहाँ दक्षिणी भारत की प्रभावशाली साहित्यिक परंपराओं का अनुकरण स्पष्टत: देखा जा सकता है इसमें श्रृंगार एवं प्रेमरस की अधिकता है। इस कुल के अन्य बादशाह भी साहित्यिक, विशेषत: काव्य-प्रेमी थे तथा प्रसिद्ध कवियों के प्रश्रयदाता थे। इन कवियों में गौव्वासी, कुतुबी, इब्नेनिशाती, तबई, जुनैदी तथा 'अमीन' उल्लेखनीय हैं।

उपरोक्त कवियों ने भी नुसरती तथा मुल्ला हाश्मी के समान मसनवी काव्य रूप में रचना की। भाषा के स्तर पर फ़ारसी-अरबी का प्रभाव उन्नति की ओर था। भावार्थ सरल एवं स्पष्ट तथा अधिकांश कथात्मक एवं आध्यात्मिक विषयों के द्योतक थे। ग़ैव्वासी की 'सैफुल-मलुक' तथा 'तूतीनामा' उपरोक्त विषयों पर आधारित रचनाएँ थीं। फ़ारसी काव्य-विषयों के अतिरिक्त संस्कृत के विपुल भंडार को भी उर्दू अर्थात दक्किनी में लेखनी बद्ध किया गया।

'तूतीनामा' संस्कृत पुस्तक शक सप्तति का अनुवाद बताया जाता है इसमें फ़ारसी-हिंदी का अनुपम मिश्रण है।

कुतुबशाही कुल का सुप्रसिद्ध कवि मुल्ला वजही (मृ. 1640 ई.) था जो इस दौर के उर्दू साहित्य में अपनी रचनाओं 'कुतुबमुश्तरी' तथा 'सबरस' के लिए सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने में सफल हुआ। उसने फ़ारसी में भी एक दीवान (काव्य संग्रह) छोड़ा है। वजही प्रथम कवि है जिसकी रचनाओं में शब्द दक्किनी प्रयुक्त हुआ है। अपनी रचना 'कुतुब-मुश्तरी' में वे कहते हैं:

> "दक्खिनी में जूँ दक्खिनी मीठी बात का
>
> अदा नहीं किया कोई उस धात का।"

दक्षिण में औरंगज़ेब कालीन उर्दू साहित्य

1687 में औरंगजेब ने गोलकुण्डा पर विजय प्राप्त कर दक्षिण के प्रमुख राज्यों को मुगल साम्राज्य का हिस्सा बना दिया। इसका सीधा प्रभाव साहित्यिक गतिविधियों पर पड़ा। औरंगजेब ने अपना पड़ाव औरंगाबाद में डाला जिसके कारण गोलकुण्डा तथा बीजापुर से साहित्यिक गुणी तथा विद्वान प्रस्थान कर औरंगाबाद में आ गए। यद्यपि औरंगज़ेब का चित्त साहित्यिक कार्यों में शून्य समान तथा सत्ता विस्तार की ओर अधिक था मगर औरंगाबाद में उर्दू साहित्य को प्रोत्साहन एवं प्रश्रय प्राप्त हुआ मुग़ल अमीरों तथा सैन्य अधिकारियों के संरक्षण से इस भाषा के साहित्य में न केवल प्रगति हुई बल्कि भाषा का रूप भी उत्तरी भारत के प्रभाव की ओर आकर्षित हुआ। औरंगाबाद दक्षिण तथा दिल्ली के बीच की कड़ी बना। लक्ष्मीनारायण शफ़ीक़ ने औरंगाबादी कवियों के योगदान पर अपनी पुस्तक 'चमनिस्तान-शुअरा' में इस तथ्य पर विस्तार से चर्चा की है। इस कड़ी का महत्वपूर्ण कवि वली दक्किनी (मृ. 1744 ई.) था। यह संत प्रकृति वाला कवि औरंगाबाद, अहमदाबाद तथा दिल्ली आदि शहरों में अपने काव्य एवं सूफ़ी प्रवृत्ति के लिए जाना जाता है। उन्होंने दिल्ली के मशहूर सूफ़ी शाह गुलशन जो मीर दर्द के पिता 'अंदलीब' के भी गुरु थे, की मंशा पर उर्दू में सूफ़ीयाना विषयों पर शेर कहना प्रारंभ किया। वली ने अपने अनूठेपन का ज़िक्र स्वयं भी किया है इसे उसने दक्खिनी में भी कहा तथा रेखता में भी:

> "दक्खिनी जबाँ में शेर सब लोगाँ कहे हैं ऐ वली
>
> लेकिन नहीं बोला कोई यक[1] शेर खुशतर[2] ज़ईं[3] निमत[4]
>
> ये रेख़ता वली का जाकर उसे सुनाओ
>
> रखता हो फ़िक्ररोशन[5] जो अनवरी के मानंद[6]"

वली के जीवनवृत में लेखकों ने लिखा है कि वली सदैव यात्रा भ्रमण में रहे। उन्होंने अनेक हिंदू और मुसलमान मित्र बनाए। उनके काव्य से पता चलता है कि उन्होंने अपने मित्रों का वर्णन सुंदर ढंग से कई रूपों में किया है। धर्म-सहिष्णु वली की काव्य रचनाएँ उस काल के सहिष्णु समाज को इंगित करती हैं।

---

1. एक 2. मधुरतम 3. इससे 4. ढंग, शैली। 5. विचार 6. गज़नवी दरबार में फ़ारसी का प्रसिद्ध क़सीदा कहने वाला कवि।

इन संत मित्रों में अमृत लाल और खेमदास का जिक्र निम्नलिखित प्रकार से किया गया है :

'है बसकि आबो-रंगे-हया खेम दास में
आता नहीं किसी के ख़्यालों में
बैरागियों के पंथ में आकर वो महजबीं
बैराग कूँ उठाके चढ़ाया आकास में.
शम्अे-बज़्मे वफा है अमृतलाल
सर्वे-बाग़े अदा है अमृतलाल''

23.3.3 उत्तरी भारत तथा दिल्ली में उर्दू काव्य का प्रारंभिक चरण

फ़ारसी-हिंदी का यह मिश्रण वली के साथ बढ़ता गया। यही भाषा दिल्ली वालों को रास आई। चूँकि इस मिश्रण में उर्दू-मौअल्ला (उच्च कोटि की उर्दू) का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर था। फलस्वरूप दिल्ली के कवियों ने इस उच्च कोटि की उर्दू में शेर कहना प्रारंभ किया।

18वीं शताब्दी के एक यात्रावृत्त (सफ़रनामा) "मुरक़्क़ाएं-देहली' से पता लगता है कि कवि गोष्ठियाँ शाही किले से अधिक ऊमरा के घरों में आयोजित होती थीं उनमें प्रसिद्ध विद्वानों और काव्य-प्रेमियों के अलावा गायिकाओं एवं नायिकाओं का भी जमघटा रहता था। नादिरशाह तथा शाह अब्दाली की लूटमार के उपरांत शाही कोष खाली था। शाबाशी (पुरस्कार) देने के लिए बादशाह के पास उचित धन का अभाव था। अमीरों के दरवाजे अब कवियों एवं गायिकाओं के लिए शरणगाह एवं प्रश्रय स्थल थे। इन बदलती हुई आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में साहित्यिक, फ़ारसी भाषा का ह्रास एवं लोगों की विमुखता अपरिहार्य थी। साहित्यिक गुण उर्दू-ए-मौअल्ला पर ही संतुष्ट थे। द्वितीय हिंदुस्तानी फ़ारसी भाषियों को ईरानी फ़ारसी भाषियों ने कभी महत्व एवं समान स्थान नहीं दिया, (वही जो हिंदुस्तानी अंग्रेज़ी वालों का होता है) इसलिए हिंदुस्तानी फ़ारसी भाषा प्रेमी लोगों को अपनी साहित्यिक, विशेषत: काव्य प्रतिभा का उर्दू में प्रदर्शन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। स्वयं मुगल बादशाह मुहम्मद शाह ने उर्दू-मौऊल्ला में काव्य लेखनी बद्ध किया। वली दिल्ली आए तो उस समय या कुछ बाद में एक बड़ा वर्ग उर्दू में काव्य कहने लगा था। इनमें 'फ़ाईज़', 'आबरू', 'नाजी, 'हातिम', 'यकरंग' मज़हर जाने-जानाँ (जान-जानाँ), 'मज़मून', 'फुगाँ', 'ताबाँ' आरज़ू, अंजाम वगैरह उल्लेखनीय हैं। इनमें 'जाने-जानाँ' और आरज़ू' का विशिष्ट स्थान है। 'जाने-जानाँ' का महत्व आध्यात्मिक काव्य के कारण तो आरज़ू का भाषा विद् होने की वजह से था। आरज़ू न केवल कवि थे बल्कि कोश-निर्माण तथा भाषा विज्ञान में उनकी रचनाएँ फ़ारसी-उर्दू भाषा के लिए मुख्य स्तंभ के रूप में स्वीकृत हैं। ईरानी कवि हज़ीन के साथ भाषा विज्ञान पर आरज़ू की साहित्यिक नोक-झोंक इस काल की विशेष चर्चा है। फ़ारसी काव्य की विशेषताओं का पूर्ण प्रभाव भी उर्दू काव्य में इन्हीं कवियों के माध्यम से प्रारंभ हुआ। द्वयर्थी परंपरा तथा शब्दाडंबर का चलन इसी का परिणाम था। इसी प्रभाव को सबके-हिंदी (फ़ारसी काव्य धाराओं में भारतीय प्रभाव का रूप) कहा गया है। सबके-हिंदी का प्रमुख कवि बे-दिल भी इसी काल में था। (जिसके काव्य की छायाएँ हमें ग़ालिब के काव्य में दिखाई पड़ती हैं।) सत्य यह है कि सबके-हिंदी रीतिकाल की विशेषताओं का फ़ारसी रूप है। जब यही परंपरा उर्दू में शुरू हुई तो कवियों द्वारा स्थानीय वातावरण को अपनी भाषा में कहना अधिक सरल हो गया। 18वीं शताब्दी के काव्य में भक्तिकाल के अध्यात्मिक रूप के स्थान पर भोग-विलास, स्वच्छंदता एवं सांसारिक प्रेम संबंधी विषय अधिक देखने को मिलते हैं विषय के स्थान पर शब्द चुनाव अथवा आडंबर का माया जाल 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अधिक देखने को मिलता है। चूँकि कवियों के पास एक तरफ फ़ारसी-अरबी अलंकारों तथा उपमाओं का विपुल भंडार था तो दूसरी तरफ खड़ी बोली या स्थानीय मिश्रित देशज भाषाओं के आम बोल चाल के टुकड़े हस्तलब्ध थे। इन सहूलियात तथा विशेषताओं ने भी रीतिकालीन काव्य लेखन को प्रोत्साहन दिया।

काव्य का विकास एवं उर्दू भाषा का शुद्धीकरण

आरज़ू और जाने-जानाँ के अतिरिक्त जिन शायरों ने उर्दू के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया उनमें शाह हातिम का बहुत महत्व है। शाह हातिम ने प्रथमत: आबरू, नाजी, मंज़मून की द्वयर्थी मुहिम का अनुकरण कर 1731-32 में प्रथम काव्यसंग्रह संकलित किया लेकिन कुछ समय बाद मज़हर जाने-जानाँ की

नये विचार एवं नवीन विषयों की अभिव्यक्त करने वाली मुहिम के साथ चलते हुए उन्होंने भाषा के शुद्धीकरण पर विशेष बल दिया। 1775 ई. में एक नया संग्रह तैयार किया जिसका शीर्षक 'दीवान ज़ादा' रखा'। 'सौदा', 'रंगी' और 'ताबाँ' आपके ही शार्गिद थे। मीर दर्द का संबंध सूफी घराने से था। उनके पिता अंदलीब शाह गुलशन के मुरीद थे। 'दर्द' को काव्य प्रतिभा विरासत में मिली थी। उनके काव्य में सूफ़ीमत की गूढ़ बातें बड़े सरल ढंग से मगर आकर्षक शैली में कही गई हैं। उनकी भाषा वर्तमान उर्दू भाषा के अधिक निकट है जैसे :

"जग में आकर इधर-उधर देखा
तू ही नज़र आया जिधर देखा।
इन दिनों कुछ अजब है दिल का हाल
देखता कुछ है ध्यान में कुछ है"

दर्द ने ग़जल में करुणा जनक एवं शोकमय भावों को प्रवाह मयी भाषा में व्यक्त करने का अंदाज अपनाया। राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन को साहित्य में पूर्णतया निहारा जा सकता है। उपरोक्त कवियों की रचनाओं में ह्रासोन्मुख युग के प्रति दर्द और कसक के अनेक नमूने मिलते हैं। मजहर जाने-जानाँ के निम्न लिखित शेर उल्लेखनीय हैं-

"चली अब गुल के हाथों से लुटाकर कारवां अपना।
न छोड़ा हाय बुलबुल ने चमन में कुछ निशां अपना।।
यह हसरत रह गई क्या क्या मज़े से जिंदगी करते।
अगर होता चमन अपना, गुल अपना, बागबां अपना।।"

वास्तव में 18वीं शताब्दी का इतिहास, चाहे विश्व इतिहास भी अगर देखा जाए, तो एक परिवर्तनकारी काल था। परिवर्तन भी कालचक्र का एक भाग है। दिल्ली में एक तरफ राजनैतिक अवनति थी तो भी समाज के मेले-ठेले रुक नहीं गए थे बल्कि उनमें अधिक गति देखी जा सकती है। फ़ाईज़ के काव्य में सामाजिक चहल-पहल का सुंदर चित्रण मिलता है जैसे:

'है इंद्र की मानो सभा जलवागर
कि हर नार दिस्ती है रंम्भा सों वर"

तो इसी काल का प्रसिद्ध क़सीदा गो शायर सौदा शाही अफसरों पर ताने कसता नज़र आता है। फ़र्रूखसियर के काल में निम्न वर्ग के अनेक व्यक्ति उच्च पदों पर आसीन हो गए थे। कुलीन वर्ग के व्यक्तियों को यह स्वीकृत नहीं था। वर्ग-झड़पों का यह विवरण भी हमें उर्दू कविता में प्राप्त होता है:

'ऐसे वैसे कैसे कैसे हो गए
कैसे कैसे ऐसे वैसे हो गए।"

24.3.4 उर्दू साहित्य विदों का दिल्ली से पलायन

दिल्ली में उर्दू साहित्य विकास की ओर तो अग्रसर था मगर विदेशी लुटेरों, नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली, ने असुरक्षा की भावना को बढ़ा दिया था। कई विद्वान और साहित्यकार दिल्ली से कूच कर गए तथा अवध, हैदराबाद, मुर्शिदबाद, पटना आदि शहरों में नये संरक्षक तलाशने लगे। 'मीर', 'सौदा', 'इंशा', 'सोज़', आदि ने दिल्ली छोड़ उपरोक्त नगरों में पनाह ली। उनके अस्तित्व से उन शहरों की रौनक़ बढ़ी। (दर्द कहीं नहीं गए इसीलिए उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है) सर्वश्रेष्ठ 'सौदा' उर्दू साहित्य के इतिहास में क़सीदा रचयिता हैं। उनकी ग़जलें भी क़सीदों की तरह भाषा एवं भाव के लिए उल्लेखनीय है। कठिन भाषा का प्रयोग उनके काव्य की विशेषता है अर्थात फ़ारसी अरबी की चाश्नी के तार अभी सूखे नहीं थे। दिल्ली से चलकर वे फ़र्रूखाबाद टिके और नवाब मेहरबान खां रिंद के दरबार में आश्रित हुए। कुछ समय उपरांत अवध की राजधानी फ़ैज़ाबाद एवं तदुपरांत लखनऊ आ गए। इस समय तक लखनऊ साहित्यिक गतिविधियों का केंद्र बन रहा था। सौदा के काव्य में विभिन्न विधाएँ नज़र आती हैं। उन्होंने

प्रशंसात्मक क़सीदे अगर कहे तो शूल से अधिक चुभने वाली व्यंग्यात्मक कविता (हजो-हजव) भी कही। दरबारियों एवं भ्रष्ट अधिकारियों को निशाना बना कर उन्होंने समाज का चित्रण किया। ग़ज़लों में भी यह रंग देखने योग्य है वे कहते हैं-

> "मैं हाल कहूँ किससे, तेरे अहद में अपना
> रोते है कहीं दिल को, कहीं जी की पड़ी है''

मीर तक़ी 'मीर' संभवत: इस युग के सबसे प्रमुख निराशावादी कवि हैं। ग़जल के वे सम्राट हैं लेकिन वे केवल कवि ही नहीं बल्कि काव्य-विद भी हैं। उनकी पुस्तकें 'निक़ातुशशुअरा' तथा 'ज़िक्रे-मीर' इस युग के काव्य पर गवेषणात्मक शोध का दर्जा रखती हैं। उनकी कविताओं में दिल को छू लेने वाली करुणामय स्थिति, अथाह दर्द तथा जीवन की कड़वी सच्चाइयाँ सीधी-सपाट भाषा तथा छोटी बहों (छंद) में मिलती हैं।

मीर की कविता आपबीती, जग-दुख एवं सांसारिक व्यथा तथा कालचक्र के थपेड़ों से मार खा रहे इंसान की कहानी है। उसका हर शेर दिल की गहराइयों तक उतर जाता है उसने आपबीती को जगबीती में परिवर्तित कर दिया:

> आफ़ाक[1] की मंज़िल से गया कौन सलामत
> असबाब[2] लुटा रहा मैं यां हर सफ़री[3] का

ग़ज़ल में अपनी काव्यत्व कला प्रदर्शन के अतिरिक्त मसनवी लेखन में भी मीर ने गज़ल कहने की परंपरा का ही रंग बरक़रार रखा। उनकी अभी तक 37 मसनवियाँ उपलब्ध हुई हैं। असफल प्रेम और नैराश्य जनक भाव सभी मसनवियों में छाया रहा। यही निराशावाद, उनका निजी विरसा है। मीर ने काव्य रूप 'वा सोख़्त' में भी लेखन किया। लखनऊ केंद्र के अन्य कवियों ने उनका अनुसरण कर इस रूप को भी उन्नति प्रदान की। उर्दू काव्य के विकास एवं उन्नति में गैर-मुस्लिम कवियों का उल्लेख भी आवश्यक है। फ़ारसी भाषा में मुसलमान कवियों एवं लेखकों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाले हिंदू उर्दू-कवियों की भी एक बड़ी संख्या इसी काल में दिखाई पड़ती है। इनमें से कुछ जैसे टेकचंद 'बहार', जो खान आरज़ू के शिष्य थे, ने फ़ारसी तथा उर्दू में भी लिखा। हालाँकि इससे पूर्व शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह के मुंशी चंद्रभान 'बरहमन' की उर्दू अथवा हिंदवी गज़लें भी मिलती हैं। आनंद राम 'मुख़लिस' दिल्ली की जानी-मानी हस्तियों में से थे। उनकी अधिकतर रचनाएँ गद्य में हैं लेकिन विभिन्न काव्य रूपों में भी उनकी कुछ रचनाएँ मिलती हैं। उनके अतिरिक्त 'खुशगो', बिंद्राबन' 'राक़िम', मेहताब राय 'ताबाँ', सियालकोटि 'वारस्ता' आदि ने भी अपनी रचनाएँ उर्दू तथा फ़ारसी में छोड़ी हैं।

इस काल के उर्दू साहित्य की विशेषताओं में यह बात स्पष्ट है कि भाषा को प्रवाहमय बनाने तथा साहित्यिक दर्जा देने का सफल भरसक प्रयत्न जारी था। भावों की अभिव्यक्ति पर अभी फ़ारसी का प्रभाव अलंकार एवं उपमाओं के रूप में हावी था। लेकिन भारतीय वातावरण भी अपना प्रभाव बढ़ाता जा रहा था। क़सीदा, ग़ज़ल और रूबाई का रिवाज बढ़ा। फ़ारसी काव्य-रूप 'शहर-आशोब' को राजनैतिक सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था की अवनति व्यक्त करने का माध्यम बनाया गया। 'सौदा' मीर तथा अन्य कवियों के 'शहर-आशोब' पठनीय हैं। संक्षिप्त यह कि उपरोक्त काल में उर्दू साहित्य विशेषत: पद्य की दिशाओं में विकासोन्मुख रहा। उर्दू साहित्य की विभिन्न विधाओं की आधार शिला इसी काल में रखी गई। नैराश्य एवं ना उम्मीदी के उस काल में उर्दू साहित्य का सूर्य अपनी किरणों से चारों दिशाओं को प्रकाशित कर रहा था। लखनऊ साहित्यिक केंद्र इसी दिशा में अगला पड़ाव था।

24.3.5 लखनऊ में उर्दू साहित्य का विकास

18वीं शताब्दी के अष्टम दशक तक लखनऊ साहित्यिक केंद्र बन चुका था। दिल्ली तथा आसपास के कविगण रोजगार की तलाश में अवध दरबार की ड्योढ़ी पर ही दस्तक देते नज़र आते थे अर्थात् दिल्ली का

---

1. उफ़ुक का बहु संसार 2. सामान 3. यात्री

साहित्यिक केंद्र उठ कर लखनऊ जा पहुँचा था। द्वितीय चरण के कवियों में मुसहफ़ी, जुरऊत, मीर-हसन, इंशा एवं रंगीं तथा फिर नासिख एवं आतिश थे। इनमें से प्रत्येक का लखनऊ केंद्र को महत्ता प्रदान करने में विशिष्ट स्थान है।

इनमें से अधिकांश के काव्य में भाव से अधिक भाषा पर ध्यान केंद्रित है। इससे भाषा को लाभ कम नुकसान अधिक पहुँचाया गया। भाषा एक बार फिर सरलता एवं सादगी से क्लिष्टता की ओर उन्मुख हुई। लखनऊ दरबार, कवियों के आपसी अहंकार एवं परिणामस्वरूप झगड़ों का अखाड़ा बन गया। लखनऊ में राजनैतिक उथल-पुथल के स्थान पर साहित्यिक उथल-पुथल अधिक होने लगी। प्रत्येक कवि स्वयं को श्रेष्ठ प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता नज़र आता है। चूँकि दिल्ली के मुक़ाबिले में लखनऊ की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। इसलिए मेले-ठेले भी जारी थे। सामाजिक जीवन में ज़िंदा दिली थी। अवध के नवाब शिया थे। परिणामस्वरूप विभिन्न धार्मिक अवसरों को बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। यहाँ तक कि मुहर्रम माह में आयोजित होने वाली शोक सभाएँ भी उत्सव का रूप धारण कर लेती थीं। मर्सिया, नोहा तथा सलाम काव्य रूपों का विकास इन्हीं धार्मिक गतिविधियों के फलस्वरूप हुआ।

लखनऊ केंद्र के प्रसिद्ध कवि गण एवं उनका काव्य

उर्दू साहित्य में मीर हसन (मृ. 1783 ई.) अपनी प्रसिद्ध मसनवी 'सहरुलब्यान' के कारण जाने जाते हैं। यह मसनवी लखनऊ के सामाजिक जीवन की प्रत्येक झलकी अपने में समोए हुए है। लौकिक से अलौकिक जीवन के वर्णन के सभी रूप इस मसनवी में वर्णित हैं। शेख कलंदर बख्श 'जुरअत' दिल्ली से कूच कर लखनऊ आए थे। लखनऊ में शाह आलम के बेटे सुलेमान शिकोह का दरबार दिल्ली से आने वाले कवियों के लिए प्रथम पड़ाव होता था। जुरअत नेत्रहीन थे। उनकी कविताओं में शृंगार रस की अधिक चर्चा है। इस दौर में मशहूर कवि इंशा अल्लाह खां इंशा जो कई भाषाओं के ज्ञाता थे लखनऊ के साहित्यिक मंच पर छाए रहे। उनकी विभिन्न रचनाएँ गद्य एवं पद्य दोनों में देखने योग्य हैं। उनकी कृति दरियाए-लताफ़त, जो कि मूलतः फ़ारसी भाषा में है, उर्दू कविता पर उच्च कोटि का शोध है। अपनी विद्वत्ता से उन्हें दरबार में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ। इंशा का अंतिम काल अति दुःखदायी रहा जबकि सारी उम्र वह दूसरों को हंसाते रहे। उनकी एक गज़ल जो आख़री गज़ल बताई जाती है से कुछ शेर यहाँ प्रस्तुत हैं:

"कमर बाँधे हुए चलने को या सब यार बैठे हैं

बहुत आगे गए बाकी जो हैं तैयार बैठे हैं

न छेड़ ऐ निकहते-बादे-बाहरी, राह लग अपनी

तुझे अठखेलियां सूझी हैं हम बेज़ार बैठे हैं"

मुसहफ़ी की गणना उर्दू के महान कवियों में होती है। उनकी ग़ज़लें भावुकता, कमाले-सादगी तथा हुनरनुमाई के लिए दूसरों के वास्ते नमूने का काम करती हैं। फ़ारसी विद्वत्ता का हस्तक्षेप उनके काव्य पर हावी है। उन्होंने प्रथम चरण के महान कवियों के विषयों का भाषा-निपुणता के ज़रिए अनुकरण किया है इसी प्रयत्न में व्यस्त रहने के कारण उन्होंने अपनी कोई शैली गढ़ने का प्रयास भी नहीं किया। उनका निम्नलिखित शेर संभवतः उपरोक्त टिप्पणी का द्योतक है:

"सोते ही हम रह गए अफ़सोस हाय

क़ाफ़िला यारों का सफ़र कर गया"

फ़ैज़ाबाद में जन्मे 'इनाम बख्श नासिख़' का अपना कवि-दरबार था। उनके शिष्यों में अधिकांश उच्च पदीय अधिकारी थे अतः उन्हें कभी आर्थिक बदहाली का सामना न करना पड़ा। नासिख़ ग़जल का शायर था। उनकी अपनी शैली थी। भाषा विद् और पिंगल शास्त्र के पांडित्य ने उनकी कविता के बाह्य रूप को तो संवारा लेकिन भाव को सुंदर न बनने दिया। उनका यश अवध से बाहर दक्कन तक था। आतिश भी नासिख़ के हमदम थे। 'आतिश' ने भी भाषा के शुद्धीकरण पर ध्यान केंद्रित किया। उनका भाषा प्रयोग नासिख से उत्तम नज़र आता है देखिए यह शेर:

ज़मीने-चमन गुल खिलाती है क्या-क्या

बदलता है रंग आस्माँ कैसे कैसे

जहानो-कारे-जहाँ से हूँ बेख़बर मैं मस्त
ज़मीं किधर है कहाँ आस्माँ नहीं मालूम

आतिश के शिष्यों में से दयाशंकर 'नसीम' (मृ. 1843 ई.) का उल्लेखनीय स्थान है उनकी मसनवी 'गुलजारे-नसीम' मीरहसन की मसनवी 'सहरूलब्यान' के बाद कलात्मक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण मानी जाती है। 'नसीम' की यह मसनवी संक्षिप्त विषय, काव्य परिपक्वता, शब्दों, अलंकारों एवं उपमाओं के उचित प्रयोग की अनूठी मिसाल है। लेकिन उसमें एक त्रुटि यह भी है कि बाह्य रूप पर ध्यान केंद्रित होने के कारण, जोकि अपने गुरु आतिश के प्रभाव की द्योतक है, करुणा एवं वेदना से वंचित है। नसीम ने अन्य काव्यरूप विशेषत: ग़ज़लें भी आतिश के रंग में ही कही हैं। सांसारिक मोह से मुक्ति, जीवन की अस्थिरता और स्वच्छंदता आदि प्रकृति के विषयों को सुंदर, सरल लेकिन मंजी हुई भाषा में नसीम की ग़ज़लों में देखा जा सकता है।

उर्दू साहित्य में मर्सिया लेखन

लखनऊ साहित्यिक केंद्र में प्रमुख काव्य रूपों में मर्सिया विशिष्ट महत्ता का धारक है। मर्सिया (शब्द रिसा से) प्राय: किसी धार्मिक, राष्ट्रीय या प्रियजन की मृत्यु पर शोक प्रगट करने के लिए रचनाबद्ध किया जाता रहा है। उर्दू साहित्य में मर्सिया लेखन उपरोक्त परिभाषा के अतिरिक्त एक ऐतिहासिक घटना से संबंधित विषय के चित्रण पर भी अति करुणाजनक एवं वेदना दायक ढंग में लिखे जाते रहे हैं। फ़ारसी साहित्य के अनुकरण में केवल काव्य रूपों का ही स्थानांतरण ईरान से हिंदुस्तान में नहीं हुआ बल्कि सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से संबंधित विषयों का संचार भी साहित्य के माध्यम से हिंदुस्तानी साहित्य में प्रस्फुटित हुआ। कर्बला में पैग़ंबरे-इस्लाम के धेवते इमाम हुसैन एवं उनके परिवार तथा निकट संबंधियों के साथ हुए अमानवीय व्यवहार एवं अत्याचार से संबंधित घटना पर मर्सिए लिखने की परंपरा फ़ारसी से उर्दू में आई। प्रथमत: दक्षिण में स्थापित शिया संप्रदाय के मुसलमान बादशाहों के यहाँ इस काव्यरूप में पद्य रचना आरंभ हुई। अवध में इस संप्रदाय के शासकों ने जब पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर ली तो शिया संप्रदाय से संबंधी सभी कृत्यों को प्रोत्साहन दिया गया, इनमें मर्सिया लेखन एवं पठन दोनों सम्मिलित थे। मर्सिया आरंभ में किसी नियम-कायदे में सीमित नहीं था। लेकिन लखनऊ में कुछ कवियों, विशेषत: 'मीर ज़मीर', मीर हसन के सपुत्र मीर ख़लीफ, एवं मीर खुल्क, 'फ़सीह' तथा 'दिलगीर' ने विशेष कलात्मक रूप से इस काव्य रूप को संवारा। मीर ज़मीर ने उल्लेखित ऐतिहासिक घटना के क्रम से ही मर्सिए को क्रमबद्ध रूप प्रदान किया। इससे मर्सिया एक प्रबंध-काव्य रूप धारण कर सांस्कृतिक एवं सामाजिक चित्रण के कैनवस पर उभर आया। मीर ज़मीर के ही दो विशिष्ट शिष्य 'अनीस' (मीर ख़लीक के पुत्र) तथा 'दबीर' ने आगामी समय में न सिर्फ 'ज़मीर' के द्वारा निर्मित मर्सिए के रूप को विकास प्रदान किया बल्कि उसे चहुँमुखी बनाया। मर्सिया लेखन में उन्होंने अपनी प्रतिभा दिखा उसे शीर्ष तक पहुँचा दिया। उनकी मर्सिया-निगारी का लोहा सबको मानना पड़ा। उनके बाद शायद ही कोई मर्सिया लेखक उनकी सी प्रसिद्धी प्राप्त कर पाया हो।

मिर्जा दबीर और मीर अनीस की प्रतियोगिता एवं प्रतिद्वंद्विता ने लखनऊ साहित्यिक केंद्र में बढ़ती हुई भोग-विलासिता संबंधी विषयों पर भी एक प्रकार की रोक लगाई। 'वासोख़्त' को प्रसिद्धि प्राप्त होने का एक कारण यह भी था। दूसरे अर्थों में उर्दू साहित्य का प्रभाव समाज पर भी पूर्णतया बढ़ रहा था। कहा जा सकता है कि साहित्य दरबार की सीमाओं से निकलकर सर्वसाधारण का दर्पण बन रहा था।

1756 ई. में लखनऊ की साहित्यिक गतिविधियों को उस समय भारी झटका लगा जब वाजिद अली शाह 'अख़्तर' को जबरन गद्दी से हटा कलकत्ता के निकट मटिया बुर्ज भेद दिया गया। 'अख़्तर' के संदर्भ में विभिन्न विचार धाराएँ जिनमें से अधिकांशत: निराधार एवं तर्कहीन हैं, प्रचलित की गईं। 'अख़्तर' ने मटियाबुर्ज में भी लखनवी वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न किया। उन्होंने लखनऊ में अपनी नव्वाबी के काल में साहित्य एवं ललित कलाओं विशेषत: नाटक तथा संगीत को अभूतपूर्व संरक्षण एवं प्रोत्साहन दिया। उन्होंने अनेक बंदिशें, ठुमरियाँ, उपरागों एवं रागनियों की रचना की। लखनऊ में मर्सिए का चलन भी उन्हीं के संरक्षण में संभव हो पाया। वास्तव में मर्सिया एक पद्य रूप होने के अतिरिक्त नाटक के रूप में भी उभरा। ईरान में वर्तमान काल में कर्बला से संबंधित घटनाक्रम पर बाकायदा नाटक लिखे एवं स्टेज किए जाते हैं। इंद्र सभा उनका मशहूर नाटक था। 'अख़्तर' की सौ से अधिक रचनाएँ विभिन्न विधाओं तथा विषयों पर उपलब्ध हुई हैं। वह स्वयं कवि, लेखक, नाट्यकार, अभिनेता तथा संगीतज्ञ और नर्तक थे।

यह बात उल्लेखनीय है कि उर्दू साहित्य के प्रथम सौ वर्ष पूर्व ही गुरु-शिष्य परंपरा आरंभ हो चुकी थी। वास्तव में इसकी शुरुआत तो दिल्ली केंद्र से ही हो गई थी जहाँ आरूज़ू, दर्द के अनेक शिष्य साहित्य के मैदान में अपने घोड़े दौड़ाते नज़र आते थे। लखनऊ केंद्र के कवि भी पीछे न थे। 'नासिख़' का नाम इन महाकवियों में सबसे ऊपर है उनके शिष्यों में 'वजीर' 'बर्क़', 'रश्क', और 'मुनीर' थे। इसी प्रकार आतिश के शिष्यों में 'रिंद', 'संबा', 'नसीम', 'खलील', शौक़ आदि प्रमुख थे। इसी प्रकार इंशा और सआदत या खां रंगी मित्र भी थे और गुरु-चेले भी। रंगी के काव्य में इंशा की शैली ही झलकती है। यद्यपि उनकी कई रचनाएँ हैं लेकिन उनमें कोई स्वतंत्र शैली का उदाहरण बनने योग्य नहीं। उनकी लिखित रेख़तियाँ[1] भी इंशा के ही अंदाज़ में हैं।

आगामी शताब्दी में यह परंपरा साहित्य के अन्य केंद्रों में बढ़ती रही। ग़ालिब तथा दाग के अनगिनत शिष्य इसी परंपरा के द्योतक हैं।

24.5 दिल्ली में उर्दू साहित्य का पुन: जागरण

अठारहवीं शताब्दी की समाप्ति तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ की यह दास्तान कई उतार-चढ़ाव देख चुकी थी। राजनैतिक एवं सामाजिक ढ़ाँचे से साहित्य का संबंध अस्थायी नहीं होता। उन्नीसवीं सदी का प्रारंभ राजनैतिक दृष्टि से उत्तर भारत के लिए काफी महत्वपूर्ण था। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कलकत्ता में सत्ता केंद्र स्थापित कर प्रथम दक्षिण तथा फिर मध्य एवं उत्तर भारत की रियासतों पर अपना साम्राज्य विस्तारवादी शिकंजा कसना शुरू कर दिया था। अवध, बंगाल, बिहार के उपरांत दिल्ली पर पूर्णत: कब्जा करने के प्रारंभिक पग उठाए जा चुके थे।

मुगल बादशाह की हुकूमत पालम तक भी नाम मात्र की ही थी। ऐसे नैराश्य व्यापी वातावरण में भी उर्दू साहित्य को फ़रोग हासिल हो रहा था। कंपनी की नई शिक्षा नीति बन रही थी। फ़ारसी को सरकारी भाषा के दर्जे से लार्ड मैकाले ने पदच्युत कर दिया था उसका यह मानना था कि स्वामी, दास की भाषा पढ़े, यह संसार के किसी साम्राज्य में नहीं हुआ। अंग्रजों को हिंदुस्तानी लोगों के शरीर पर अंग्रेजी पोशाक जिसमें वे सिर्फ बाबू नज़र आएँ, चाहिए थी और यह कामना फ़ारसी के माध्यम से नहीं हो सकती थी।

दिल्ली का मध्य कालीन क्लासिकी काव्य

लेकिन भाषा एवं उससे जुड़ी संस्कृति की जड़ें इतनी मजबूत होती हैं कि उनका मूलोच्छेदन एकदम नहीं हो सकता। दिल्ली सदैव उजड़ती रही बसती रही। दिल्ली के टिमटिमाते मुगल दरबार में वे कविगण जो दिल्ली से कूच नहीं कर गए थे या जो 'दिल्ली की गलियाँ छोड़कर' नहीं जाना चाहते थे, ने उर्दू साहित्य की शमां को बुझने ही नहीं दिया बल्कि और रौशन किया। इनमें मुख्यत: जौक, मोमिन, ज़फ़र एवं गालिब थे। दाग़ अमीर तथा जलाल ने बुजुर्गों का अनुसरण किया।

इनमें सर्वप्रथम शाह नसीर का उल्लेख आता है जो दिल्ली छोड़कर लखनऊ तो गए मगर वहाँ उचित स्थान (चूँकि वहाँ नासिख, इंशा एवं मुसहफी का वर्चस्व था) प्राप्त न हुआ तो वापस आ गए। अंतत: हैदरबाद के दीवान चंदूलाल 'शादाँ' का प्रश्रय प्राप्त कर दिल्ली को छोड़ दिया। जब तक दिल्ली में रहे शाहआलम के दरबार से जुड़े रहे। उनकी रचनाओं में भाषा क्लिष्ट, अलंकारों की भरमार तथा अधिकांश बेमेल उपमाओं की भीड़ है। शैली बनावटी है। कई बार लखनऊ रहे तो वहाँ का रंग भी उनके काव्य पर प्रधान रहा जिससे कोई स्थायी शैली पनपने न पाई। हैदराबाद में चूँकि अच्छे कवियों का अकाल था इसलिए उनके पहुँचने पर कवि गोष्ठियाँ होने लगीं और उर्दू साहित्य विशेषत: पद्य को उन्नति प्राप्त हुई।

शाह नसीर ने जब दरबार से दामन छुड़वाया और मीर काज़िम हुसैन बेकरार ने अंग्रेज़ सरकार की नौकरी स्वीकृत की तो शेख़ मुहम्मद इब्राहिम 'जौक' की किस्मत खुली। उन्हें बहादुर शाह ज़फ़र का

1. रेख़ती: स्त्रियों की बोल चाल में और उन्हीं के जीवन के संदर्भ में कही गई कविता को रेखती का नाम दिया गया। दक्षिण के कवि हाशिमी बीजापुरी को इसका प्रवर्तक माना जाता है। लखनऊ के सामंती समाज में स्त्री की मनोवृत्ति क्या रही होगी। इसका चित्रण हमें रेख़ती-काव्य रूप में देखने को मिलता है। उर्दू साहित्य में इस काव्य को हीन दृष्टि से देखा गया है। जबकि इसे पोस्ट-माडर्निजम (Post-Mordernism) के रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए था।

नैकट्य प्राप्त हुआ। 'ज़फर' ने 'जौक़' को उस्ताद के रूप में स्वीकारा। ज़ौक़ नरम दिल, गंभीर मिज़ाज तथ खुदा से डरने वाले व्यक्ति थे। उनकी शायरी को फ़िराक़ ने पंचायती शायरी कहा है अर्थात् उनके काव्य को सर्वसाधारण की स्वीकृति प्राप्त थी। ग़ालिब की कविता दार्शनिक थी और मोमिन की रचनाएँ ऐसी कि आदमी गुत्थियों में उलझा रहे और सुलझाने पर कोई आनंद भी प्राप्त न हो। ऐसे में 'ज़ौक़' जिन्हें दरबारी संरक्षण भी प्राप्त था, ने उर्दू साहित्य में अपना स्थान अनेक क़सीदे कहकर बनाया। हालाँकि उनका स्तर 'सौदा' के क़सीदों जैसा उत्कृष्ट नहीं मगर भाषा की दृष्टि से ये क़सीदे विशिष्ट स्थान रखते हैं। ज़फर ने उन्हें उत्कृष्ट क़सीदा रचयिता के समानार्थ ख़ाक़ानी-ए-हिंद[1] की उपाधि तथा एक गाँव जागीर में दी। ग़ज़ल में जौक़ ने भाषा एवं भाव दोनों में रंगीनी पैदा करने की सफल कोशिश की है। मुहावरे और टुकड़ों ने उनके भावों को उत्कृष्ट बनाया है।

सूफी मत के अनेक विषयों को भी 'ज़ौक़' ने ग़ज़ल का भाग बनाया है। कभी-कभी 'ज़ौक़' के गंभीर मिज़ाज में शोखी की झलक भी दिखाई पड़ जाती है। निम्नलिखित शेर उनके व्यापक चिंतन एवं सोच का द्योतक है।

> हंगामा गर्म हस्ती-ए-ना पाएदार[2] का
>
> चश्म है बर्क़[3] को कि तबस्सुम शरार का
>
> जिसे कहते हैं बहरे-इश्क़[4] उसके दो किनारे हैं
>
> अज़ल नाम इस किनारे का, अबद नाम उस किनारे का
>
> हुए इंसान सब सोज़े-मुहब्बत के लिए पैदा
>
> फ़रिश्ते होते गर होते इबादत के लिए पैदा

हकीम मोमिन खां 'मोमिन' 'ज़ौक़' तथा ग़ालिब त्रिआयामी व्यूह में कहाँ फिट होते हैं, यह सदैव चर्चा का विषय रहा है। मोमिन, जिनका पेशा हकीमी था, फ़ारसी काव्य शास्त्र के वेत्ता थे। संगीत तथा शतरंज में उनकी रुचि थी। इसका प्रभाव उनकी शायरी में भी दिखाई देता है। फ़ारसी गद्य एवं पद्य दोनों में उनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनकी काव्य रचनाओं में ग़ज़ल मसनवी तथा क़सीदे सभी रूप सम्मिलित हैं। ग़ज़ल और मसनवी में श्रृंगार एवं प्रेम रस की भरमार है। कहा जाता है कि वे जवानी में प्रेम तरंगों में खूब झूले थे। यदा-कदा भावों में अश्लीलता भी दिखाई देती है लेकिन भावों में गहराई एवं दूर तक ले जानी वाली कल्पना मोमिन की ही शायरी में उपलब्ध है। उनका यह शेर देखिए:

> तुम मेरे पास होते हो गोया
>
> जब कोई दूसरा नहीं होता

यह शेर उनकी दूरस्थ कल्पना का द्योतक माना जाता है। मोमिन की विषय संरचना को कुछ आलोचकों ने इसे भाव की जटिलता तथा भाषा की क्लिष्टता का नाम भी दिया है। उनके कुछ शेर उदाहरणत: प्रस्तुत हैं:

> असर उसको ज़रा नहीं होता
>
> रंज राहतफ़ज़ा नहीं होता
>
> उसने क्या जाने क्या किया लेकर
>
> दिल किसी काम का नहीं होता
>
> वो जो हममें तुममें क़रार था तुम्हें याद हो कि न याद हो
>
> वही यानी वादा निबाह का तुम्हें याद हो कि न याद हो।

मिर्जा असदुल्लाह 'ग़ालिब' वास्तव में उर्दू साहित्य में अपने उपनाम के अनुसार पूर्णत: सार्थक रहे हैं। संभवत: उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के सामने अन्य सभी उर्दू के गद्य एवं पद्य रचयिताओं का स्थान द्वितीय

---

1. ख़ाक़ानी फ़ारसी का प्रसिद्ध क़सीदा लिखने वाला शायर 2. अस्थायी अस्तित्व अर्थात संसार 3. बिजली 4. प्रेम सागर

ही बन पड़ता है। सामंती वातावरण में पोषित स्वच्छंद प्रकृति वाले इस महान लेखक एवं कवि के अनेक गद्य एवं पद्य रचनाओं के संग्रह छप चुके हैं तथा भारतीय एवं विश्व की भाषाओं में अनूदित हो चुके हैं। उनका जन्म आगरा में 1797 ई. में हुआ। बचपन में ही पिता तथा फिर चाचा का साया सिर से उठ गया। ननिहाल में पालन-पोषण हुआ। पैरों में गृहस्थ आश्रम की बेड़ियाँ भी जल्द ही पड़ गईं। काव्य रचना का शौक बचपन से ही था। 21 वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उर्दू कविता के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बना चुके थे। दरबार से नजमुद्दौला, दबीरुलमुल्क तथा निज़ाम जंग की उपाधियों से सम्मानित हुए। आर्थिक कठिनाइयों ने उन्हें सदैव घेरे रखा। पेंशन पाने के चक्कर में (उत्तर) भारत के दर्शन किए। विभिन्न शहरों की साहित्यिक गतिविधियों में भाग लेकर सामाजिक अवस्थाओं तथा मानव-विज्ञान से संबंधित अनेक सूचनाएँ एकत्रित कीं। इन्हीं व्यापक एवं विभिन्न दर्शनों ने उनके काव्यत्व को बहुअर्थी एवं बहुआयामी बनने में योगदान दिया। उनकी रचनाओं में मानवीय मनोविज्ञान के अनेक रूप मिलते हैं। जिन्हें पढ़कर लगता है कि वे शायर से अधिक एक मनोवैज्ञानिक हैं। उनके काव्य की भाषा कहीं बहुत कठिन है तो कभी बिलकुल सड़क छाप। अलंकार एवं उपमाओं की भरमार नहीं है अपितु अधिक बल भाव की अभिव्यक्ति पर है। ग़ालिब को अपनी फ़ारसी विद्वत्ता और फ़ारसी रचनाओं पर गर्व था। उन्होंने फ़ारसी में भी अनेक कृतियाँ छोड़ी हैं। अमीर खुसरों की भांति उन्होंने फ़ारसी काव्य शास्त्र और संस्कृत काव्य शास्त्र के विभिन्न रसों के मिश्रण से लाभ प्राप्त किया है। पद्य के विभिन्न रूपों में अपनी अथक-कलम से रचनाएँ छोड़ी हैं। गद्य (जिसका उल्लेख हम उर्दू गद्य भाग में करेंगे) की प्रत्येक शाखा में ग़ालिब ने अपने वर्चस्व का प्रदर्शन किया है। उनकी कविता को समझने के लिए थोड़ी सी बौद्धिक शक्ति, सूझबूझ तथा भाषा के सांकेतिक रहस्यों की जानकारी ज़रूरी है वे स्वयं कहते हैं:

हुस्ने-फरोगे-शम्ऐ सुख़न दूर है असद

पहले दिले-गुदाख़्ता पैदा करें कोई

(काव्यरूपी दीपक के सौंदर्यवर्द्धन से लाभान्वित होने के लिए आवश्यक है कि प्रथमतः हृदय मर्मस्पर्शी एवं द्रव्यमयी हो)

उन्होंने काव्य रचना कोई स्थान अथवा पद पाने की लालसा में नहीं की बल्कि उनसे उनके चितंन, रुदन, प्रेमभाव एवं विविध प्रकार के मानवीय एवं प्राकृतिक बोधों ने काव्य रचना करवाई। उनकी काव्य शैली अनुपम, अनूठी एवं अति सुंदर है। 'ग़ालिब का है अंदाजे बयाँ और' उनको अपने समकालीन साहित्यकारों से पृथक कर देता है और उन्हें 'अंदलीबे गुलश्ने-ना आफ़रीदा (अनिर्मित बाग़ की बुलबुल) घोषित करता है। उनकी रचनाएँ अपने युग का चमकदार आईना हैं जिसमें हर मैदान में हो रहे घटना क्रम का दृश्य देखा जा सकता है। हार्दिक भावों तथा मनोभाव में लाई गई एकरूपता एवं समन्वय ने ग़ालिब की ग़ज़लों को अधिक लोकप्रिय बनाया है। आइये उनके कुछ शेर पढ़ें:

देखना तक़रीर की लज़्ज़त, कि जो उसने कहा

मैंने ये जाना, कि गोया ये भी मेरे दिल में है

हम कहाँ के दाना थे, किस हुनर से यकता थे

बे सबब हुआ ग़ालिब, दुश्मन आस्मां अपना।

यथार्थवाद अर्थात् जीवन के कड़वे सत्यों का यथावत चित्रण ग़ालिब के काव्य में प्रायः देखने में आता है। लेकिन ग़ालिब ने अपने स्वच्छंद एवं विविधतावादी होने का प्रमाण इस तरह दिया है कि वह किसी एक विशिष्ट वाद में कटिबद्ध नहीं हुए। उन्होंने प्रत्येक विचारधारा को अपने काव्य में जगह दी। उनमें और मीर में फर्क यह है कि मीर नैराश्य ग्रस्त हैं और ग़ालिब नैराश्य को भगा जिंदगी में एक नया पहलू ढ़ूंढ़ने में प्रयत्नशील हैं:

याद थीं हमको भी, रंगारंग बज़्म आराइयां

लेकिन अब नक़्शों-निगारे ताके़-निसियां हो गई

बेखुदी बेसब्ब नहीं, ग़ालिब

कुछ तो है जिसकी पर्दादारी है

जब आध्यात्मिक डगर पर बढ़ते हैं तो खुदी छूट जाती है और कहते हैं :

न था कुछ तो खुदा था कुछ न होता तो खुदा होता
डुबोया मुझे को होने ने न होता मैं तो क्या होता

और फिर ख्याल आता है कि :

जान दी, दी हुई उसी की थी
हक़ तो यू हैं कि हक़ अदा न हुआ

1857 ई. में हुई राजनैतिक उथल-पुथल का दृश्य उन्होंने देखा ही नहीं बल्कि सहा भी। बादशाह का सान्निध्य प्राप्त होने के कारण उन पर भी विद्रोही होने का आरोप लगा पेंशन बंद हो गई। ग़ालिब की ग़जलों में उस माहौल का चित्रण देखते ही बनता है जिसने हंसोड़ ग़ालिब को भी मूक कर दिया:

बारहा देखी है उनकी रंजिशें
पर कुछ अबके सरगरानी और है

कोई उम्मीद बर नहीं आती
कोई सूरत नज़र नहीं आती
आगे आती थी हाले-दिल पे हंसी
अब किसी बात पर नहीं आती

इस अभूतपूर्व प्रतिभाशाली कवि एवं लेखक का देहांत 1869 ई. में हुआ। कहते हैं ग़ालिब ने अपनी मौत का दिन भी कई बार ऐलान किया लेकिन हुई जब, जब आनी थी। उन्होंने स्वयं कहा है :

क़ैदे-हयातो-बंदे-ग़म अस्ल में दोनों एक हैं
मौत से पहले आदमी ग़म से निजात पाए क्यों

24.6 नज़ीर अकबराबादी तथा उर्दू साहित्य में नई धारा का विकास

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध और आरंभिक उत्तरार्ध में उर्दू काव्य अपने विकास के शीर्ष दौर में पहुँच गया था। अब काव्य लेखन ज़ायक़ा बदलने के लिए नहीं अपितु प्रतिभा के लिए दिल से निकले आर्तनाद के समान था। उसमें अपने वातावरण का चित्रण भी था और दिल में उठते हुए भावों का अंकन भी समकालीन साहित्य में नज़र आती है। उर्दू भाषा का साहित्य एक सीमित दायरे में विकसित हो रहा था। कविगण लिखते उर्दू भाषा में थे, सीमित रहते हिंदुस्तानी वातावरण में तो प्राय: फ़ारसी अरबी भाषा में विषय चिंतन करते थे। साहित्य आलोचकों ने इसे संभवत: इसी कारण मध्यकालीन उर्दू साहित्य से अभिहित किया है। कभी-कभी इसे उर्दू का क्लासिकी अदब भी कह दिया जाता है। नि:संदेह इनमें कुछ विभूतियों की रचनाएँ क्लासिक कहलाने की हक़दार हैं। लेकिन इस पूरे प्रकरण में सार्वजनिक एवं सार्वभौमिक कृतियों की झलक पाने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है।

18वीं शताब्दी के समापन तक पश्चिमी साहित्य एवं सभ्यता का प्रभाव विभिन्न माध्यमों से भारत के विभिन्न भागों में पड़ना शुरू हो गया था। रियासतों की अवनति एवं ह्रास तथा अंग्रेजों की शिक्षा नीति ने समाज के एक बड़े वर्ग को यह बोध करा दिया था कि परंपरागत साहित्य का ज़माना चिरकालीन नहीं है। उर्दू साहित्य की विभिन्न विधाएँ साहित्यिक केंद्रों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी विकास की ओर अग्रसर थीं। इन्हीं में से एक शहर आगरा था जो पुराने ज़माने में मुग़लों की राजधानी थी। अत: अपने अतीत के साए में यह शहर सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखे हुए था। इसी शहर में 1740 ई. में जन्म हुआ नज़ीर अकबराबादी का जो उर्दू साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्होंने सभा-साहित्य (बज़्मीयाँ-अदब) को खुदाहाफ़िज़ कह अपने समाज का चित्रण किया। इसी कारण साहित्य इतिहास लेखकों के अनुसार नज़ीर ने उस अफ़रा-तफ़री के माहौल में अपनी मस्जिद अलग ही खड़ी की। उन्हें मीर,

सौदा, मोमिन एवं ग़ालिब का बराबर तो नहीं कहा जा सकता लेकिन उनमें सभी वे साहित्यिक गुण भी विद्यमान थे जिनसे उन्हें एक स्वतंत्र साहित्यिक विभूति कहा जा सके।

नज़ीर अकबराबादी ने काव्यरूप एवं विषय के अनुसार भाषा शैली का चुनाव किया। उनका विषय रीतिवाद का नहीं अपितु उनके अपने वर्तमान समाज का था इसीलिए उन्होंने अपने युग के सभी मेलों-ठेलों, अपने समकालीन समाज के पूज्य व्यक्तित्व, चाहे उनका संबंध किसी भी धर्म अथवा संप्रदाय से हो, को अपने काव्य का विषय बनाया है। ब्रज में होली खेलने का शौक़, आगरे के पुराने मुहल्लों में बच्चों के साथ कनकव्वे उड़ाने की आदत एवं इसी प्रकार की सामाजिक मिलनसारी ही उनकी कविता में विद्यमान है। उन्हें धार्मिक सहिष्णुता का पुजारी तथा आदर्श व्यक्ति का ख़िताब दिया जाता है। अगर उन्हें क़ुरान एवं हदीस कंठस्थ थी तो रामायण के दोहे भी मिसरी बनकर उनके मुँह से निकलते थे। उनके काव्य संग्रह में विविध एवं नाना प्रकार के विषयों के उदाहरण पठनीय हैं जिनसे उनकी स्वच्छंद प्रवृत्ति एवं अथाह मानव प्रेम की अनुभूति होती है। उनकी मृत्यु लगभग 1830 ई. में हुई।

24.7 उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दिल्ली से बाहर उर्दू काव्य साहित्य का विकास

दिल्ली के पूर्व उल्लिखित महान कवियों के अतिरिक्त अनगिनत कवियों का प्रमुख वर्ग उर्दू साहित्य विशेषत: पद्य साहित्य के विकास में जुटा हुआ था। फ़ारसी के स्थान पर उर्दू को प्राप्त हुए सरकारी सम्मान ने इसे और प्रोत्साहन दिया। राजनैतिक परिवर्तन का प्रभाव साहित्य पर होना स्वाभाविक था। 1857 के विप्लव ने नए साहित्यिक केंद्र भी स्थापित किए। इनमें रामपुर, भोपाल, टाँडा, मंगरोल, हैदराबाद, टोंक, अलवर, पटना, मुर्शिदाबाद आदि उल्लेखनीय हैं। दिल्ली तथा लखनऊ के कवि एवं लेखक अच्छे संरक्षकों की खोज में उपरोक्त रियासतों के साहित्य प्रेमी स्वामियों के दरबारों में पहुँच कर अपनी प्रतिभा एवं गुण का प्रदर्शन करते थे। उर्दू साहित्य के विकास में इन संरक्षकों का बड़ा योगदान रहा है। इनमें रामपुर के वाली नवाब (नव्वाब) युसफ अली खां एवं नवाब कल्बे अली खां, हैदराबाद के महबूब अली ख़ाँ, लखनऊ और उसके आसपास राजा टिकैत राय, महाराज भाऊलाल, राजा नवलराय तथा इसी प्रकार महाराज अलवर एवं टोंक के नवाब उर्दू साहित्य को पूर्ण सरंक्षण प्रदान करते रहे।

उर्दू के मध्यकालीन काव्य का अंतिम चरण

इस शीर्षक से उर्दू काव्य के उस वर्ग का संकेत मिलता है जो बीसवीं शताब्दी के आधुनिक कवियों से पूर्व विद्यमान था। उनमें से अधिकांश उर्दू के क्लासिकी शायरों के शिष्य या शिष्यों के भी शिष्य रहे थे। उनके काव्य अपने पूर्ववर्ती कवियों की कोटि को तो न छू सके मगर परंपरा को सजीव रखने का उत्तरदायित्व निभाने में सफल रहे। नवाब मुहम्मद मुस्तफा खां 'शेफ्ता', जिनका संबंध एक प्रतिष्ठित घराने से था, मोमिन एवं ग़ालिब के अतिप्रिय शिष्य थे। ग़ालिब ने अनेक पत्र उनको संबोधित करके लिखे हैं जिनसे उनकी प्रतिभा का बोध होता है। 'ग़ालिब' की तरह 'शेफ्ता' ने फ़ारसी में अधिक उर्दू में कम कहा। उन्होंने उर्दू साहित्य में साहित्यिक आलोचना की आधार शिला रखी जिसे बाद में हाली ने सुदृढ़ किया। इसी प्रकार मीर मेहदी मजरूह, असग़र अली खां 'नसीम' 'ज़हीर' ने अपने गुरुओं की शैली में काव्य रचना की। ज़हीर भी ज़ौक के ही शिष्य थे लेकिन जो प्रसिद्धी 'दाग़' को प्राप्त हुई शायद ही कोई और कवि इतना भाग्यशाली था। 'दाग़' फिरोजपुर के नवाब शम्सुद्दीन के पुत्र थे। नवाब शम्सुद्दीन की मृत्यु के उपरांत उनकी मां ने बहादुर शाह ज़फ़र के बड़े बेटे मिर्जा फ़ख़रू से निकाह कर लिया। जिससे दाग़ को लालकिले में रहना नसीब हुआ यहीं वे 'ज़ौक' के शिष्य बने। लेकिन 1856 में मिर्जा फ़ख़रू के देहांत के उपरांत दाग़ को अपनी मां के साथ लालकिला छोड़ना पड़ा। लेकिन लालकिले के बाहर दिल्ली में तथा दिल्ली से बाहर रामपुर, लखनऊ, हैदराबाद में अपनी प्रतिभा के कारण उन्हें बहुत सम्मान नसीब हुआ। उस ज़माने में हैदराबाद के नवाब महबूब अली खां ने उन्हें एक हजार रुपया मासिक वेतन पर अपना दरबारी कवि बनाया। यहीं 1905 ई. में उनका स्वर्गवास हुआ। 'दाग़' के चार काव्य संग्रहों के अतिरिक्त मसनवी एवं पत्रों के संग्रह भी छपे हैं।

'दाग़ की कविता पर उनके सफल जीवन की छाप है। वे सामंती वातावरण में पले थे। लालकिले में आर्थिक कठिनाइयाँ भले ही छाई हुई थीं मगर सांस्कृतिक गतिविधियाँ बंद नहीं हुई थीं। 'ज़ौक' जैसा मेहरबान

उस्ताद उन्हें मिला। लालकिले की उर्दू ए मौअल्ला, शाही स्त्रियों से बोलचाल तथा मुहावरे की शैली में आदान प्रदान ने उनको काव्य रचने में बहुत सहायता की। 'दाग़' के कलाम को पढ़ने से यह अनुभूति नहीं होती कि हिंदुस्तान का उस दौर में क्या हाल था अपितु वहाँ अठखेलियाँ और चुलबुलापन है। ठहाकेदार वातावरण की परछाइयाँ ही 'दाग़' के काव्य में मिलती हैं। भावों को व्यक्त करने में उन्होंने कोई संयम नहीं बरता। भले ही कुलीन एवं सामंतवादी परंपरा के आलोचकों को उनकी कविता निम्न स्तर अथवा अनैतिक ढर्रे की लगे लेकिन 'दाग़' भी क्या करते। उनका पालन-पोषण ही ऐसे वातावरण में हुआ था जहाँ सिर्फ आमोद-प्रमोद तथा भोग-विलासिता की बातें थीं। वही बातें अथवा विषय जो मुग़ल साम्राज्य के पतन का कारण बनीं। उल्लेखनीय बात यह है कि 'दाग़' को अनेकों शिष्य मिले जिनमें इक़बाल का नाम भी शामिल है।

दिल्ली की भांति लखनऊ भी साहित्य-संरक्षण में अवनति की ओर उन्मुख था। मर्सिया लेखन तथा गज़ल गोई में परंपरागत रंग का अनुकरण जारी था। श्रृंगार एवं प्रेम रस ग़ज़ल पर अपना वर्चस्व बनाए हुए थे। जो नासिख, रश्क तथा दबीर के प्रभाव के द्योतक थे। इन्हीं के शिष्यों, जैसे 'मुनीर', 'शौक', 'असीर', 'अमानत', 'ज़की 'अमीर' तथा 'जलाल' ने उस्तादों की परंपरा को आगे बढ़ाया था। नवाब मिर्ज़ा 'शौक़' की मसनवी जहरे-इश्क, जो अनेकों बार प्रकाशित हो चुकी है अपने सुंदर चित्रण एवं सरल भाषा के लिए प्रसिद्ध है। इसमें लखनऊ शहर में व्याप्त विलासपूर्ण तथा पतनशील समाज का चित्रण दर्शनीय है।

इसके विपरीत अमीर मीनाई, (मृ. 1901) जो दाग के प्रोत्साहन पर हैदराबाद चले गए थे और वहीं उनका स्वर्गवास हुआ, ने गंभीर एवं सुसंस्कृत विषयों को अपने काव्य में बड़े भावुक एवं कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। श्रृंगार एवं प्रेम रस ही उनकी मसनवियों का मूल विषय है लेकिन उच्च स्तर एवं अच्छी कोटि के भावों ने उनके काव्य को विशिष्ट स्थान दिलवाया है। अमीर की प्रसिद्धि पद्य के अतिरिक्त गद्य में उनके कोश-निर्माण के कारण भी है। उनकी संपादित 'अमीरूललुगात' अपनी किस्म की प्रथम लुगत (शब्दकोश) है। उनके कुछ शेर प्रस्तुत हैं-

क्या कहें इश्क़ में क्या मिलता है
बुत के मिलने से खुदा मिलता है
उनको आता है प्यार पर गुस्सा
हमको गुस्से पे प्यार आता है

जलाल सैयद जामिन अली, का संबंध भी लखनऊ से था। हकीमी के साथ शेर कहने का उन्हें बहुत शौक था। अवनति के दौर में भी उन्होंने लखनऊ काफी अर्से तक नहीं छोड़ा। बाद में रामपुर के नवाब युसफ अली खां के निमंत्रण पर आए। नवाब कलबे अली खां, जिन्हें दिल्ली केंद्र के कवि अधिक प्यारे थे, की उपेक्षा पर मंगरोल चले गए वहीं उनका देहांत (1904 ई.) में हुआ। जलाल को उच्च कोटि की भाषा के प्रयोग पर पूर्ण पकड़ प्राप्त थी। अलंकार एवं उपमाओं का इस्तेमाल उन्होंने बड़े संयम से किया है जो कि लखनऊ केंद्र की विशेषताओं के विपरीत है। जलाल ने पिंगल शास्त्र एवं कोश शास्त्र पर कई रचनाएँ लिखी हैं। उनके पद्य में पुराने कवियों विशेषकर मीर की छाप दिखाई देती है। सादगी, स्पष्टता के साथ-साथ भाव में गहराई उनके काव्य का प्रमुख गुण है। इसी कारण उन्हें उर्दू पद्य में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

इन कवियों के अतिरिक्त अनेक कवि इस परिवर्तन के युग में हुए। इस युग के काव्य की प्रमुख विशेषताएँ थीं:

- भाषा में सरलता एवं सादगी का आगमन
- बेमेल अलंकारों एवं उपमाओं को तिलांजलि
- भावों में श्रृंगार एवं प्रेम की प्रधानता
- राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तन का काव्य में चित्रण।

यही भाषा एवं भाव संबंधी विशेषताएँ आगामी दौर में अधिक कविता के उद्‌घटन में प्रमुख स्तंभ बनी।

24.8 उर्दू साहित्य में गद्य लेखन

उर्दू भाषा में उपलब्ध प्रारंभिक गद्य कृतियाँ धर्म एवं नैतिक शास्त्र संबंधी विषयों पर आधारित हैं। पद्य की भांति उर्दू गद्य के प्रारंभिक अवशेष दक्षिणी भारत में ही प्राप्त हुए। यह बात भी उल्लेखनीय है कि अमीर खुसरो की हिंदवी गद्य रचनाएँ प्रथम तो प्रामाणिक नहीं हैं। अठारहवीं शताब्दी की विभिन्न पाँडुलिपियों अथवा स्प्रेंगर के संग्रह जो मूलत: अवध का शाही पुस्तकालय था, में से जो अमीर खुसरो की खालिक बारी अथवा हिंदवी कलाम ढूंड कर डांडे मिलाने की कोशिश की गई है। उस पर सबसे बड़ा प्रश्नचिन्ह यही लगा हुआ है कि उल्लेखित अमीर खुसरो संबंधी काव्य युक्त गद्य सामग्री अथवा उपलब्ध पांडुलिपि अमीर खुसरो की मृत्यु के लगभग 350 वर्ष बाद की है। दूसरे, उसमें कितना भाग खुसरो द्वारा लिखित है तथा कितना उनके श्रद्धालुओं द्वारा यह रहस्य अभी तक खुल नहीं पाया है। लेकिन यहाँ यह आशय नहीं कि अमीर खुसरो ने हिंदवी काव्य रचना नहीं की। उनकी फ़ारसी रचनाएँ इस तथ्य का प्रमाण हैं तथापि उर्दू के प्रामाणिक गद्य साहित्य का प्रारंभ दक्षिण में रचित कृतियों के आधार पर आँका जा सकता है।

दक्किनी गद्य साहित्य

प्राप्त उर्दू गद्य सामग्री में ख्वाजा गेसूदराज (मृ. 1432) की 'मेराजुल आश्किीन' तथा शाह मीरान जी (मृ. 1497 ई.) की 'गुलबास' 'शाहे-मरमुलकुलुब' तथा 'जलतरंग' को प्रथम गद्य चिन्ह स्वीकार किया गया है। लेकिन दक्षिण में ही रचित मुल्ला वजही की 'सबरस' को साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति कहा जाता है। 'वजही' की रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि उन्हें स्थानीय भाषाओं के अतिरिक्त फ़ारसी अरबी साहित्य एवं भाषाओं में पूर्ण परिपक्वता प्राप्त थी। 'सबरस' में भी स्थानीय भाषाओं तथा फ़ारसी-अरबी के रूप एवं कथानक का मिश्रित रूप देखने को मिलता है।

> फरहाद होकर, दोनों जहाँ ते आज़ाद होकर
>
> दानिश के तेशे सूँ पहाडाँ उल्टाया तो यूँ शीरी पाया'

इस अंश में अधिकांश फ़ारसी के शब्द शामिल हैं। मुल्ला वजही के सामने फ़ारसी साहित्य के अतिरिक्त कोई और साहित्य कृति मार्गदर्शक नहीं थी। इसीलिए उनकी इस कृति में असमन्वय एवं शब्दों का बेमेल जोड़ बहुतायत में है। शैली में रंगीनी विभिन्न दृश्यों के चित्रण द्वारा प्रस्तुत की गई है।

दक्षिण में ही लिखित एक अन्य पुस्तक 'दह मजलिस' है जिसको पद्य में 'वली' ने रचा था लेकिन फ़ज़ली ने इसका गद्य रूपांतर 1733 ई. में संकलित किया। इसी काल में फ़ारसी किताबों के अनुवाद भी प्रारंभ हो चुके थे इनमें सैयद शाह मीर की 'असरारूल तौहीद', जो अद्वैतवाद विषय पर अन्य किताबों से उद्धरित विषय सामग्री के आधार पर अनूदित की गई थी, उल्लेखनीय है।

उत्तरी भारत में उर्दू गद्य के प्रथम अवशेष

उत्तरी भारत में भक्ति धारा के प्रभाव से उर्दू अथवा हिंदवी भाषा में पद्य के साथ-साथ गद्य में भी लेखन कार्य आरंभ हुआ। धार्मिक अथवा आध्यात्म विषयों के अतिरिक्त कला-साहित्य संबंधी विषयों पर लेखकों ने अपनी रचनाएँ लेखनीबद्ध की हैं। इनमें मुख्यत: 'कर्बल कथा', 'नौतर्जे-मुर्सआ', नौ-आईने-हिंदी', किस्सा-ए-मेहर अफ़रोज़े-दिलवर', अजायबुल क़स्स, जज़्बे-इश्क़ आदि गद्य साहित्य की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। यह उर्दू में कथा साहित्य का प्राथमिक आधार है। इनकी शैली फ़ारसी-अरबी कथा साहित्य से ली गई है। कहीं-कहीं भाषा अति बोझिल है। इनके अध्ययन से लगता है कि उर्दू भाषा के वाक्य-विन्यास में केवल सहायक क्रिया पदों, का प्रयोग किया गया है। लेकिन यह भी सत्य है कि इन्हीं आधार स्तंभों को सन्मुख रखकर' बाग़ो-बहार' (मीर-अम्मनकृत) तथा 'फ़साना-ए-अजायब' जैसी कथा साहित्य की महत्वपूर्ण पुस्तकें लेखनीबद्ध हुई होंगी। यह वह काल है जब ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रसार पूरे देश में हो रहा था। पाश्चात्य का प्रभाव विभिन्न मार्गों से हिंदुस्तानी समाज में अपने बीज बो रहा था। कलकत्ता इस नये माहौल का केंद्र बना। भाषा विज्ञान की दृष्टि में भारतीय भाषाओं का विकेंद्रीकरण हो रहा था। संस्कृत भाषा के ड़ाडो को भारतीय-यूरोपीय भाषा वर्ग से जोड़ कर एक नई सांस्कृतिक एवं साहित्यक धारा को जन्म देने के प्रयत्न प्रारंभ हुए।

24.9 उर्दू साहित्य का विकास केंद्र : फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना एवं नई गद्य शैली

डॉ. जान बार्थविक गिलक्राईस्ट (मृ. 1841 ई.) ने लार्ड वेलेजली की सहायता से फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। इस कालेज की स्थापना का उद्देश्य अंग्रेज अधिकारियों को उर्दू अथवा हिंदुस्तानी तथा देशी भाषाएँ विशेषत: बंगाली सिखाना था। सत्य यह है कि उर्दू गद्य की गति पद्य के सामने बहुत धीमी थी। फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना ने आम-बोल चाल की भाषा को सरकारी दर्जा देकर साहित्यिक रूप प्रदान किया। इसी कारण गद्य में विभिन्न विषयों पर कार्य बहुत गति से प्रारंभ हुआ। उर्दू गद्य लेखन कार्य, रचना, संकलन एवं अनुवाद तीनों विधाओं में हुआ। इस अभूतपूर्व गति ने लेखकों को प्रोत्साहन दिया। मुद्रण कार्य ने भी इसमें अहम भूमिका निभाई। इस नई चेतना एवं आधुनिकीकरण के प्रभाव से देश के अनेक प्रतिभाशाली लेखकों ने स्वतंत्र रूप से गद्य के विकास कार्य को अपनाया। फोर्ट विलियम कालेज तो बहुत अर्से तक नहीं चल पाया मगर वहाँ लिखी अथवा अनूदित किताबों को प्रसिद्धी बहुत मिली। इनमें मीर अम्मन की 'बाग़ों-बहार' हैदरी की 'आराइशे-महफ़िल', अफ़सोस की 'बागे-उर्दू' विला की 'बेताल पचीसी' निहाल चंद की 'मज़हबे-इश्क' आने वाली नस्लों के लिए गद्य की मार्गदर्शक बनीं। डॉ. गिलक्राईस्ट तथा उनके सहयोगियों ने उर्दू के प्रारंभिक कायदे तथा शब्द कोश निर्माण पर बहुत काम किया। 1825 ई. में बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के आदेशानुसार यह संस्था सदैव के लिए बंद कर दी गई।

हैदरी की 'आराइशे महफिल' में हातिम ताई पर सात कहानियाँ बड़े रोचक अंदाज़ में लिखी गई हैं। 'गुले मग़फ़िरत', जो फ़ारसी के मशहूर कवि मुल्ला हुसैन वायज़ काश्फ़ी की काव्य पुस्तक 'रौज़तुश्शैहदा' का उर्दू अनुवाद है, भी अनुपम रचना है।

मीर बहादुर अली हुसैनी की सुविख्यात मसनवी 'किस्साए-बे नज़ीर-बद्रे नज़ीर' भी बहुत लोक प्रिय रही। मज़हर अली खाँ की 'बेताल पचीसी' तथा 'तारिखे-शेर शाही' अंग्रेजों के पाठ्यक्रम हेतु तैयार की गई प्रमुख पुस्तकों में से थी। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि पाठ्य पुस्तकों में सभी विषयों विशेष कर धार्मिक ग्रंथों तथा ऐतिहासिक विषयों की प्रमुख किताबों के स्वतंत्र अनुवाद शामिल थे। सुजान राय भंडारी की फ़ारसी में लिखित 'खुलास्तुतवारिख' का अनुवाद 'अफ़सोस' ने 'आराईशे-महफ़िल' के नाम से किया (यह हैदरी की 'आराईशे महफिल' से भिन्न है)। इसी प्रकार कवियों के जीवन वृत संबंधी तज़किरो के अनुवाद भी इस संस्था में किए गए। इनमें 'गुलशने हिंद', जो 'गुलशने इब्राहिमी' का उर्दू अनुवाद है, में समकालीन कवियों का हाल बयान किया गया है। अन्य कथा-ग्रंथों में से 'शकुंतला' एवं 'गुलबकावली' का भी अनुवाद किया गया।

24.10 उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का उर्दू गद्य साहित्य

फोर्ट विलियम कालेज के अतिरिक्त दिल्ली लखनऊ तथा आगरा आदि शहरों में नैतिक तथा कथा साहित्य पर उल्लेखनीय कार्य हुआ।

मुगल साम्राज्य की पतनशील अवस्था तथा राजनैतिक परिवर्तन में कथा साहित्य ही आम व्यक्ति को यथार्थ की दुनिया से अलग ले जाने में सफल था। कथा पाठन की प्रथाएँ हिंदुस्तान में चिरकालीन समय से प्रसिद्ध हैं। रजब अली बेग 'सुरूर' की 'फ़सानए अजायब' तथा इससे पूर्व इंशा द्वारा लिखित 'रानी केतकी की कहानी' तथा 'दरियाए लताफत', पुस्तकें उर्दू गद्य के विशिष्ट नमूने हैं। यह रचनाएँ फ़ारसी प्रभाव से अछूती नहीं थी। नज़ीर अहमद के कलम से निकली रचनाओं में हिंदुस्तानी समाज का चित्रण हिंदुस्तानी भाषा में था। कथा साहित्य से हटकर गद्य साहित्य अन्य भाषाओं में भी लिखा जाने लगा। इसी के साथ उर्दू गद्य साहित्य में मौलिक लेखन की परंपरा का रिवाज पड़ा। यह उर्दू गद्य लेखन में एक नई चेतना थी तथापि फ़ारसी भाषा की पुस्तकें विशेषत: नैतिक विषयों पर आधारित, जैसे अख्लाके-जलाली, अनवारे-सुहैली, गुलिस्ताँ, इतिहास की किताबें तारिखे-फ़रिश्ता, सियरूल-मुताखिरीन, अकबरनामा आदि के उर्दू अनुवाद बड़ी मात्रा में साहित्य संरक्षण जागृति के आर्विभाव में किए गए।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अठारहवीं शताब्दी की समाप्ति तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक पाँच दशकों में जो उर्दू साहित्य लेखनीबद्ध हुआ उसमें दो प्रकार की प्रमुख श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं:

* फ़ारसी तथा अरबी से अनूदित पुस्तकें जिनमें अधिकांशत: धार्मिक विषयों का वर्णन था। अनुवाद अथवा रूपांतर के भी मुख्यत: दो कारण थे। प्रथमत: फ़ारसी भाषा जन साधारण की भाषा न होने के कारण आम आदमी के लिए विदेशी भाषा ही थी। लोग पुस्तकों को पूर्णतया नहीं समझ पाते थे। अत: अनुवाद के माध्यम से ही लोगों को मूल-पाठ की विशेषताओं से परिचय करवाया जा सकता था।

* फ़ारसी के प्रचार के कम होने तथा सरकारी संरक्षण से भारतीय लोगों में उर्दू भाषा को साहित्यिक भाषा बनाने में सहायता प्राप्त हुई।

उपरोक्त बातों का यह आशय कतई नहीं कि फ़ारसी का वर्चस्व समाप्त हो गया हो। क्योंकि फ़ारसी अरबी को सरकारी स्थान के अवज़ सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ अर्थात कवि एवं लेखक गण फ़ारसी अरबी शब्दों, उपमाओं एवं अलंकारों से भाषा सज्जा का कार्य लेते थे। फ़ारसी मुहावरों का मूल पाठ में प्रयोग आम बात थी (आज भी इसका प्रचलन पूर्णत: खत्म नहीं हुआ है)।

लेकिन यह भी सत्य है कि अंग्रेज सरकार की भाषा नीति, जिसका उद्देश्य भाषाओं के विकास के माध्यम से फूट डालो नीति भी थी, ने उर्दू लेखकों को भाषा संरक्षण के लिए बाध्य किया कि भाषा सरल, स्पष्ट तथा सर्वसाधारण की समझ में आ जाने वाली हो। इस नई जागृति का प्रमाण हमें उर्दू के उस लेखक-वर्ग से मिलता है जिनका संबंध सर सैयद अहमद से था।

24.10.1 उत्तरी भारत में उर्दू सहित्य के विकास केंद्र : दिल्ली कालिज

फोर्ट विलियम कालिज के बंद होने से उर्दू साहित्य में नई चेतना एवं स्फूर्ति का तत्व क्षीण होने की बजाए परिवर्तित राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के कारण अधिक बलशाली हुआ। दिल्ली कालिज जो पूर्व में मदरिसाए-गाज़ीउद्दीन (1792 ई.) था, में विज्ञान, गणित तथा साहित्य का शिक्षण एवं लेखन कार्य शुरू हुआ। कंपनी की नई शिक्षा नीति को इस शिक्षा संस्थान में कार्यरत उदारवादी लेखकों ने स्वीकृत किया। विज्ञान एवं साहित्य के पारिभाषिक शब्द कोश संकलित किए गए। अनुवाद का काम, जिसकी शुरुआत निम्न स्तर पर फोर्ट विलियम कालिज में हुई थी, पुन: इस संस्था में बड़े पैमाने पर शुरू हुआ। अनुवाद कार्य का उद्देश्य अंग्रेजी, संस्कृत और फ़ारसी-अरबी भाषा की प्रमुख कृतियों को स्थानीय भाषा में अनुवाद तथा पाठ्यक्रमों की सामग्री एकत्रित करना था। इस कार्य में अंग्रेजी और हिंदुस्तानी विद सम्मिलित एवं एकजुट थे। इस संस्था को 'वर्नाक्यूलर ट्रांसलेशन सोसायटी' का नाम दिया गया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य में मास्टर रामचंद्र, ज़काउल्लाह, बहादुर अली हुसैनी, मौलवी सुभान बख़्श और मौलवी ममलूक अली के नाम उल्लेखनीय हैं। इन प्रबुद्ध लेखकों के अनुवाद कार्य ने उर्दू साहित्य में अनुवाद कार्य को नई दिशा दिखाई। अंग्रेज़ी पदाधिकारियों में डॉ. बोर्थ डॉ. स्प्रेंगर तथा श्री टेलर का कार्य अति प्रशंसनीय रहा। मास्टर रामचंद्र की देख-रेख में संपादित समाचार पत्र किरानुस्सादैन, 'फ़वाईदुनाराजिरीन' तथा 'मुहिब्बे वतन' सर सैयद की शैली पर मुद्रित हो रहे थे। पाश्चात्य विज्ञान की दुनिया का द्वार इन्हीं पत्रों के माध्यम से सर्वसाधारण के लिए खोला गया। इन पत्रों से उर्दू में समाचार पत्र लेखन एवं संपादन कार्य भी प्रारंभ हुआ। मास्टर रामचंद्र की रचनाओं में 'तज़ीकरतउलकामिलीन', ' उसूले-इलमे-हैयत ' तथा अजायबे-रोज़गार, जो मुख्यत: विज्ञान संबंधी विषयों पर हैं, बहुत प्रसिद्ध है। आपके प्रिय शिष्यों में नज़ीर अहमद, ज़काउल्लाह तथा मुहम्मद हुसैन आज़ाद थे।

लाहौर ओरियंटल कालिज

लेकिन 1857 ई. के विप्लव के उपरांत इस संस्था को बंद कर 1877 ई. लाहौर में स्थानांतरित कर दिया गया। लाहौर का यह साहित्यिक केंद्र सेवाओं के लिए बहुत प्रसिद्ध हुआ। पंजाब यूनीवर्सिटी लाहौर से जुड़ा ओरिंटल कालिज उर्दू साहित्य के नए केंद्र के रूप में उभरा। अनेक उर्दू-फ़ारसी के मूल पाठ, अनुवाद एवं साहित्यिक पत्रिकाएँ इस संस्था से मुद्रित हुईं। उत्तरी भारत के उर्दू-फ़ारसी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह मुख्य स्थल था। यहाँ उर्दू साहित्य को बहुत उन्नति प्राप्त हुई। उर्दू भाषा एवं साहित्य को फ़रोग प्रदान करने के लिए कई अन्य संगठन कायम किए गए। अंजुमन पंजाब का नाम उनमें उल्लेखनीय है। यहाँ के

विद्वानों में मुहम्मद हुसैन आज़ाद, प्यारे लाल आशोब, लाला श्री राम, मशहूर आलोचक महमूद शीरानी तथा स्वयं इकबाल सम्मानित लेखक, एवं गुरुओं में से थे। यहाँ हुए शोधकार्यों में मूल पाठों के शोधात्मक संपादन पाँडुलिपियों की सूची तैयार करना तथा आधुनिक आलोचना शैली पर आधारित लिखे नए विस्तृत निबंध प्रमुख हैं। सैयद अब्दुल्ला की प्रमुख रचनाओं में 'पंजाब में उर्दू' 'फारसी अदब में हिंदुओं का हिस्सा' 'मबाहिस', नक़्दे मीर आदि प्रमुख हैं। पाडुँलिपियों की वैज्ञानिक दृष्टि से संपादित की गई सूची का श्रेय प्रो. मुहम्मद बशीर को जाता है। महमूद शीरानी के उपरांत सबसे प्रमुख शोध वेत्ता मौलवी मुहम्मद शफी रहे। उनका अधिकांश कार्य फ़ारसी-उर्दू पाडुँलिपि कोष से संबंधित है। उनका स्वयं का पाडुँलिपि कोष आज भी पंजाब यूनीवर्सिटी लाहौर की प्रमुख निधियों में गिना जाता है।

24.10.2 उर्दू में कथा साहित्य का प्रारंभिक चरण

उर्दू साहित्य में कथा साहित्य का प्रथम चरण अठारहवीं सदी के समापन एवं उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक काल में लिखित कथाएँ हैं। प्रथमत: उर्दू कथा साहित्य फारसी-अरबी कथा साहित्य का हिंदुस्तानी रूपांतर था, जिसमें वाक्य-विन्यास को अगर अनदेखा किया जाए तो सभी कुछ फारसी था। दक्षिण में लिखी गई पुस्तकें अवश्य दक्षिणी भारतीय भाषाओं के साहित्य से प्रभावित थीं।

उर्दू कथा सहित्य में फोर्ट विलियम कालिज और दिल्ली कालिज के अतिरिक्त जिन लेखकों को नए कथा साहित्य का प्रवर्तक माना जाता है, उनमें इंशा अल्लाह खां इंशा का नाम सर्वोपरि है। उनकी दास्ताने, सिल्के-गोहर ' जो बगैर नुक्तो वाले शब्दों पर लेखनीबद्ध है तथा रानी-केतकी एवं दरियाए-लताफ़त (जिसमें फारसी भाषा में उर्दू भाषा के नियम कायदों तथा छंदशास्त्र पर भी चर्चा है) ने उर्दू कथा साहित्य में एक नई धारा को जन्म दिया। इन दास्तानों का विषय एवं कथानक मूलत: भारतीय था। भाषा की मिठास, भावों की गहराई तथा नवीन शैली आकर्षक तथा भाषा की भविष्य निधि को निर्धारित करने वाली थी।

इस नये दौर के प्रसिद्ध लेखकों में मौलवी नजीर अहमद की रचनाएँ नई चेतना, पाश्चात्य शिक्षा एवं विज्ञान की द्योतक हैं उन्होंने संस्कृति संरक्षण को प्राथमिकता देकर स्त्रियों से संबंधित कई समस्याओं को भी अपनी रचनाओं में उजागर किया है उनकी भाषा में सादगी एवं सरलता तथा टकसाली रंग भी देखने को मिलता है। मौलवी नजीर अहमद के महत्त्वपूर्ण कार्यो में इंडियन पीनल कोड का उर्दू अनुवाद 'ताजीराते–हिंद ' उल्लेखनीय है। यह आज भी न्यायिक कार्यों में प्रयुक्त होने वाली प्रामाणिक पुस्तक है। नज़ीर अहमद ने अभूतपूर्व उन्नति प्राप्त की तथा वह राजस्व विभाग के सदस्य भी रहे।

मौलवी जकाउल्लाह (मृ.1910) हाली (मृ. 1904 ई.) और मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने भी दिल्ली कालिज की पंरपरा को आगे बढ़ाया तथा गद्य में विभिन्न विषयों पर रचनाएं लेखनीबद्ध कीं। मौलवी जकाउल्लाह नए ढंग की सादा एवं सरल तथा मंझी हुई उर्दू लिखते थे। अल्ताफ हुसैन हाली इस युग के महान लेखक, आलोचक तथा निबंध लेखक के रूप में प्रसिद्ध हुए। दिल्ली कालिज में शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत विभिन्न स्थानों पर रोजगार करने के साथ–साथ रचना कार्य भी किया। सर सैयद के प्रोत्साहन पर उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता 'मुसद्दस' लिखी। 'गालिब' के प्रभाव में उन्होंने गद्य को नवीन शैली में लिखना आरंभ किया। लेकिन उनके गद्य पर अधिक प्रभाव मुहम्मद हुसैन 'आजाद' का है। काव्य आलोचना में प्रमुख रचना, 'मुकद्दमा–ए–शेरो–शायरी' अपनी ढंग की उर्दू साहित्य में प्रथम कृति है। हालांकि फारसी साहित्य में ऐसी अनेक पुस्तकें हैं जिनका प्रभाव इस पुस्तक पर देखा जा सकता है।

मुहम्मद हुसैन 'आजाद' ने जो उर्दू गद्य में निबंध एवं चरित्र–चित्रण कार्य किया उसने उन्हें अमर बना दिया। उनकी अनेक गद्य एवं पद्य पुस्तकों में 'आबे ह्यात' (अमृत) वस्तुत: अमर कृति है। वह 'गालिब' के शिष्य रहे और 'शेफ्ता' के मुसाहिब। दिल्ली कालिज में कुछ समय अध्यापन कार्य करने के उपरांत वह हैदराबाद चले गए। उनके पिता 'बाकिर' को डा. टेलर के कत्ल के इल्जाम में सजा हुई तो आजाद लाहौर जा बसे और वहाँ अन्होंने अपना रचना कार्य जारी रखा। उनकी पाठ्यक्रम संबंधी पुस्तकों में 'उर्दू रीडर' तथा 'जामए उल कवायद' फारसी साहित्य के इतिहास पर, "सुखनदान फारसी तथा कंदे–पारसी, निगारिस्ताने फारस एवं इतिहास के विषय पर 'दरबारे अकबरी' अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। आबे–ह्यात उर्दू काव्य के इतिहास पर प्रथम कृति है। 'आजाद' ने अपने उस्ताद जौक का काव्य संग्रह 'दीवाने जौक' भी संपादित किया। यद्यपि 'जौक' पर उनकी टिप्पणी आज संदेहास्पद दृष्टि से देखी जाती है।

24.10.3 नई चेतना और अलीगढ़ साहित्य केंद्र

उत्तरी भारत में लखनऊ और दिल्ली दोनों केंद्रों पर अंग्रेज आधिपत्य की स्थापना के उपरांत उर्दू साहित्य में नई चेतना का संचार हो चुका था। पाश्चात्य प्रभाव को निर्बाध उन्नति एवं प्रचार प्राप्त हो रहा था। 1857 की विफल क्रांति ने अंग्रेजी सत्ता को शक्तिशाली बना दिया था। मुसलमानों को संदेहास्पद दृष्टि से बाहर निकालने तथा नई धारा में प्रवेश कराने का सर्वोत्तम श्रेय सर सैयद अहमद खां को जाता है। उन्हीं के अथक प्रयासों से अलीगढ़ शिक्षा संस्था की स्थापना हुई। अनेक बाधाओं तथा कड़े विरोध के बावजूद उन्होंने एक बृहत वर्ग को अपने साथ लेकर नई चेतना एवं नवीन धारा को अपनाया। आधुनिक शिक्षा तथा उर्दू साहित्य उनका ऋणी है। गद्य साहित्य में निबंध लेखन का कार्य उन्होंने उपनी पत्रिका 'तहजीबुल अख्लाक' से किया। नवीन विषयों में पुरातत्व विज्ञान का परिचय अंग्रेज पुरातत्व वेत्ताओं द्वारा किया जा चुका था। सर सैयद अहमद ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'आसार–उस्सनादीद' इसी संदर्भ में लिखी। दिल्ली की ऐतिहासिक इमारतों तथा विभूतियों पर ऐसी कोई रचना इतने विस्तार से पहले नहीं लिखी गई थी। पाश्चात्य शोध शैली पर उर्दू गद्य में लिखी गई यह पुस्तक अनुपम है। उनकी रचनाएँ नवीन शैली परंपरा से अलग, विषय में स्वतंत्र थीं। विषय चुनाव में बौद्धिक, प्रकृति, नैतिक, भौतिक उन्नति एवं वैज्ञानिक विकास को प्राथमिकता होती थी। वाक्य छोटे मगर गूढ अर्थ के द्योतक थे। जिनमें पूर्वी तथा पश्चिमी सभ्यता का मिश्रण था, जिनसे आगामी शताब्दियों में होने वाले परिवर्तन की वाणी सुनाई देती थी। वास्तव में समकालीन समाज की वर्तमान स्थिति तथा आगामी जरूरतों तथा चित्त परिवर्तन की विशेष एवं अपरिहार्य आवश्यकताओं पर बल सर सैयद की रचनाओं में भरा हुआ है। राष्ट्र निर्माण के मार्ग में सर सैयद का योगदान प्रथम आधारशिला है। उन्होंने अपने सहयोगियों से भी यही अपेक्षा की। 'हाली' की मुसद्दस इसी दिशा में ठोस क़दम थी।

सर सैयद की लेखनी एवं वाणी का प्रभाव इतना अधिक था कि उनके आलोचक भी उनसे प्रभावित हुए। कई आलोचक आलोचना त्याग प्रशंसक एवं सहयोगी बन गए। जैसे नवाब मेहदी अली खाँ मुहसनिउलमुल्क (मृ. 1907 ई.) प्रथमत: सर सैयद के कड़े आलोचक रहे। लेकिन बाद में उनसे प्रभावित होकर उनके सबसे बड़े सहयोगी बने। उन्होंने समाज सुधार के लिए कई निबंध लिखे। इनमें अधिकांश लेख धर्म अथवा एतिहासिक विषयों पर हैं लेकिन अंत:कथा में समाज सुधार ही निहित है। भाषा सरल तथा प्रवाहमय है।

उपरोक्त लेखक वर्ग की अनेक रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उर्दू साहित्य में :

- पाश्चात्य विज्ञान एवं शिक्षा नीति को स्वीकार करने से ही समाज एवं राष्ट्रहित की संभावना,
- भाषा में सरलता, स्पष्टता एवं गूढ़ अर्थों का क्लिष्ट भाषा एवं अव्यावहारिक भाषा सज्जा से स्थानांतरण, तथा
- विषय–वस्तु एवं विषय चुनाव पारंपरिक तत्वों के स्थान पर नवीन विषयों के आगमन पर ही अपेक्षित किया जा सकता है। इन्हीं परिवर्तनों के माध्यम से उर्दू साहित्य के उचित एवं उज्ज्वल भविष्य के निर्माण की संभावना है। उस आंदोलन का तत्काल प्रभाव हमें गद्य साहित्य की विभिन्न विधाओं, जैसे उपन्यास, अफ़साना, निबंध लेखन, कोश निर्माण, पत्र–पत्रिका संपादन आदि में स्पष्ट दिखाई देता है। राजनैतिक दृष्टि से यह वर्ग क्रांतिकारी तो नहीं लेकिन इनके क्रांतिकारी विचारों ने उर्दू साहित्य को नवीन धारा की ओर उन्मुख किया। आगामी शताब्दी अर्थात् बीसवीं शताब्दी का उर्दू साहित्य इन्हीं लेखकों के मार्गदर्शन पर आधारित था।

24.10.4 उर्दू पत्र लेखन की परंपरा

उन्नीसवीं शताब्दी में उर्दू साहित्य की विभिन्न विधाओं में पत्र लेखन अथवा खुतुत–निगारी की प्रसिद्धी का सेहरा गालिब के सर है। उनके खुतुत फारसी और उर्दू दोनों भाषाओं में हैं। उन्होंने पत्र को वार्ता–माध्यम घोषित कर अनेक दोस्तों, साहित्यकारों तथा मित्रों एवं प्रश्रय दाताओं को पत्र लिखे। गालिब ने पत्र लेखन में संवाद शैली को प्रयुक्त कर उर्दू पत्र लेखन विधा को एक नई राह दिखाई। संवाद सरल, स्पष्ट, काव्य–युक्त, चुटकलों और व्यंग्यात्मक टुकड़ों से लिप्त, मुहावरों एवं लघु कथानकों पर आधारित आकर्षक भाषा से परिपूर्ण होता है। यही शैली गालिब ने अपनाई। इससे मध्यकालीन फ़ारसी से प्रभावित पत्र लेखन कला का बोझिल तथा औपचारिक ढर्रा ज्यादा दिन उर्दू पत्र लेखन में टिक न पाया। गालिब के फ़ारसी पत्र पंचआहंग में संकलित है। उनके उर्दू पत्रों के संग्रह का प्रकाशन भी कई बार हो चुका है।

गालिब की ही शैली में ख्वाजा अमान, जो गालिब के ही निकट संबंधी थे, ने पत्र लेखन किया। उनकी अनूदित किताब 'बोस्ताने ख्याल', जो अलवर के राजा शिवदान सिंह के सुझाव पर लेखनीबद्ध हुई, उर्दू साहित्य में बेनजीर है।

संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि उर्दू साहित्य में गद्य बड़ी तीव्र गति से करवटें ले रहा था, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन साहित्य में पूरी तरह चित्रित हो रहे थे। इसका परिणाम आगामी काल में बड़े पैमाने पर दिखाई देता है।

24.10.5 उर्दू साहित्य में उपन्यास एवं लघुकथा : प्रथम चरण

उर्दू साहित्य में उपन्यास की कड़ियों को पारंपरिक दास्तान गोई से जोड़ कर देखने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार अफसानों या लघुकथा को भी हिकायतों का आधुनिक रूप बताया जाता रहा है। जबकि उपरोक्त दोनों विधाएं अपने प्रारूप के अनुसार नई थीं तथा पाश्चात्य सभ्यता की देन थीं। यह सत्य है कि कथा साहित्य भारत तथा एशियाई देशों में दीर्घकालीन समय से व्याप्त था मगर अफसाने तथा उपन्यास का आधुनिक रूप कतई भारतीय अथवा एशियाई नहीं था। उर्दू के प्रारंभिक अफसानों के लेखन में फोर्ट विलियम कालिज में लिखित पाठ्य संबंधी कहानियों से लेकर नजीर अहमद के स्त्री संबंधी शिक्षा तथा समस्याओं के निवारण पर रचित अफसानों तथा उपन्यासों के सफर में अनेक अज्ञात एवं ज्ञात लेखक हुए। नजीर अहमद को शैली में दास्तानों की परंपरा भी दिखाई देती है लेकिन उनके विषय नवीन हैं और भाषा सरल एवं स्पष्ट। वास्तव में उर्दू साहित्य में अफसाना एवं उपन्यास नैतिक एवं समाज सुधार का उत्तरदायित्व निभा रहा था। 1857 के उपरांत अनैतिकता का बोलबाला बढ़ रहा था। केंद्रीय सत्ता के छिन्न–भिन्न होने से कानून व्यवस्था समाप्त हो गई थी। लोगों में नैराश्य बढ़ रहा था। ऐसे वातावरण में समाज-सुधार के साहित्य की आवश्यकता थी। नजीर अहमद के अतिरिक्त रतननाथ 'सरशार' (मृ. 1902 ई.) का नाम उपन्यासकार के बतौर उभरा। 'फसानाए आजाद' में उनकी सृजनशक्ति तथा बौद्धिक शक्ति का पता चलता है 'सरशार' का जीवन साहित्यिक कार्यो में गुजरा। 'अवध अखबार' से लेकर 'दबदबाए आसिफया' तक के अनुभवों तथा निजाम और सर किशन प्रशाद 'शाद' के काव्य–सुधारों ने उन्हें जीवन में कहीं से कहीं पहुँचा दिया। 1878 ई. में 'फसानाए–आजाद' प्रथमत: अवध अखबार में किस्त वार छपा। बाद में यह पुस्तक रूप में मुद्रित हुआ। इस फसाने में अंतर्निहित अनेक फसाने हैं भारतीय समाज के उच्च वर्ग से लेकर निम्न स्तर तक के सभी वर्गों के अच्छे–बुरे पहलुओं का भावात्मक मर्म स्पर्शी चित्रण इसमें दिखने को मिलता है।

अब्दुल हलीम 'शरर' (मृ. 1926 ई.) ने उर्दू कथा साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास लेखन का कार्य प्रारंभ कर महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। उन्होंने फ्रैंच तथा अंग्रेज़ी भी अच्छी तरह सीख ली थी। उनके अफसानों में 'हसन अंजलीना', 'मलिकुल–अजीज' और 'मंसूर मोहना' आदि हैं। एतिहासिक उपन्यासकारों में मिर्जा मुहम्मद 'रुसवा' का अगर उल्लेख न किया जाए तो अन्याय होगा। विभिन्न विषयों में उन्होंने अनेक कृतियों की रचना की है। रसायन विद्या से उन्हें विशेष लगाव था उनका मशहूर उपन्यास 'उमराव जान अदा' ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का दर्पण है।इसमें वेश्याओं के जीवन का चित्रण पूर्णतया सत्य प्रतीत होता है। भाषा में अजीब आकर्षण तथा मिठास है। इस कृति के भावों में करुणा एवं मनावैज्ञानिक ढंग से पाठक के मन को आकर्षित किए रखने वाला कथानक इसके अतिरिक्त इनके अन्य उपन्यासों में 'खूनी भेद', 'बहराम की रिहाई' आदि भी प्रसिद्ध है।

1857 के विप्लव के उपरांत उर्दू साहित्य के बड़े लेखकों के सामने एक बड़ा प्रश्न था कि साहित्य को किस दिशा में ले जाया जाए। परंपरावादी वर्ग अभी तक परिवर्तित परिस्थितियों को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं था। उदारवादी अथवा प्रगतिशील वर्ग जिसका मार्गदर्शन सर सैयद ने प्रारंभ किया था इस विषमता को भली-भांति समझता था। पाश्चात्य साहित्य के साथ सहित्यिक दर्शन व विभिन्न वादों का प्रभाव भी स्वाभाविक था। विश्व स्तर पर हो रहे विभिन्न मानवीय शोषण का चित्रण मार्क्सवादी लेखनी द्वारा ही संभव था। उर्दू साहित्य पर इसका शीघ्र प्रभाव उस काल की रचनाओं से प्रदर्शित होता है। बीसवीं सदी के प्रारंभ तक लार्ड मैकाले की भविष्यवाणी से हिंदुस्तान में एक बड़ा मध्यम वर्ग अस्तित्व में आ गया था। सामंती मानसिकता तो खत्म नहीं हुई थी मगर उसका दूसरा रूप अवश्य समाज में छा रहा था। धर्म एवं राजनीति के मिलने से धार्मिक असहिष्णुता का प्रसार सरल होता है। स्वतंत्रता आंदोलन ने अगर स्वतंत्रता

प्राप्त करने के मार्ग खोले तो धार्मिक प्रवृतियों को भी पूर्णत: जगा दिया। भारतीय समाज में इन प्रवृत्तियों की वृद्धि से खाई बढ़ी तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आँच आई। यही विजय किसी न किसी रूप में साहित्य के लिए चित्रण का माध्यम बने।

24.11 स्वतंत्रता आंदोलन का प्रारंभिक काल एवं उर्दू काव्य

1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना हुई। भाषा - विवाद (हिंदी-उर्दू अथवा हिंदुस्तानी-हिंदी) अंग्रेज पहले ही भड़का चुके थे। दोनों पक्षों की तरफ से कीचड़ उछालने में कोई कमी नहीं रही। अंग्रेज पास बैठे उकसाते रहे और आनंद लेते रहे। ऐसी परिस्थितियाँ सभी को अपने घेरे में नहीं ले पाई थीं। एक बड़ा वर्ग अंग्रेजों की दूरगामी चाल को भलि-भांति समझ रहा था। इसलिए जब मुस्लिम लीग की स्थापना हुई तो शिबली नौमानी जैसे उत्कृष्ट साहित्यकार ने उसकी आलोचना की। वह सर सैयद की नीतियों के हामी थे। सर सैयद के मंसूबे अनुसार मुसलमानों में पूर्व गौरव की पुन: स्थापना; मानसिक गिरावट का निष्कासन, स्वत्व की पहचान तथा वैज्ञानिक युग की उन्नति को स्वीकृति तथा उस ज्ञान से लाभान्वित होना तथा अंतिम कि इस्लाम कयामत तक ले जाने वाला धर्म है जिसमें सदैव प्रगति का मार्ग खुला है। यह अन्य धर्मों की भांति संकीर्ण मार्ग का द्योतक नहीं। इन्हीं पदचिन्हों पर शिबली तथा अकबर ने अपना गद्य एवं पद्य लिखा। पूर्व-गौरव की पुन:स्थापना के विचार से शिबली ने धार्मिक विषय पर अरबी-फारसी साहित्य के इतिहास की यादें ताजा कराने के लिए शेरउल अजम (छ: भाग) लिख डाली। मुगल बादशाहों में औरंगजेब पर विशेष निबंध लिखे ताकि निकटवर्ती भूतकाल के प्रताप एवं गौरव से वर्तवान के नैराश्य को भगाया जा सके और अभिमान का पुन: अहसास किया जा सके। अपने पद्य में शिबली ने अंग्रेजों की त्रस्तकारी नीतियों पर लगातार प्रहार किए:

> कोई पूछे कि ऐ तहजीबे-इंसानी के उस्तादों
>
> यह जुल्म आराईयाँ ता कै यह हश्र अंग्रेजिया कब तक

उनके विपरीत अकबर इलाहाबादी (मृ. 1921 ई.) बदलती हुई परिस्थितियों में न ढलने वाली शख्सियतों में से थे। उन्हें विज्ञान की प्रगति एवं मानव विकास ढकोसले लगते थे। अंग्रेज सरकार के नौकर होते हुए भी उन्होंने कभी इन तथ्यों की सत्यता को नहीं स्वीकारा। उन्होंने नवपरिवर्तन को व्यंग्यात्मक रूप दिया तथा उर्दू साहित्य में हास्य रस की परम्परा को बढ़ाया। गुजरा हुआ जमाना और उसकी बरकतें अकबर के लिए संतोषप्रद तथा वर्तमान नैराश्य जनक था, लेकिन उन्होंने हास्य रस में काव्य रचना कर अपने को तृप्त रखा। अपने काव्य के माध्यम से उन्होंने पश्चिमी सभ्यता की परखचियाँ उड़ाई हैं। उनकी प्राचीन सभ्यता एवं धर्म उन्हें सर्वोपरि है। मजेदार बात यह है कि अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने खूब किया है :

> क्या कहूँ इसको मैं बदबीख्तए नेशन के सिवा
>
> इसको आता नहीं अब कुछ इमीटेशन के सिवा

आधुनिक शिक्षा उन्हें कतई पसंद नहीं थी। उन्हें सर सैयद के विचार भी नहीं भाते थे। अपने व्यंग्य के बाण सर सैयद पर भी खूब छोड़े :

> इब्तिदा की जनाब सैयद ने जिनके कालिज का इतना नाम हुआ
>
> इंतिह यूनीवर्सिटी पे हुई कौम का काम अब तमाम हुआ

प्रतिक्रियावाद के सकारात्मक एवं नकारात्मक रूप उर्दू साहित्य में उभरने स्वभाविक थे। काव्य रूपों में गजल परंपरा से बढ़कर वर्तमान का साथ दे रही थी। बुजुर्ग कवियों, जिनका काव्य बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही अपना रंग दिखाना आरंभ कर चुका था, जिनमें मुंशी दुर्गा सहाय 'सुरूर', पंडित बृजनारायण चकबस्त, इकबाल, हसरत मोहानी, फानी बदायूनी, असर मुख्यत: आदि थे, की शायरी परिवर्तन, नव जागृति तथा मानवीय शोषण एवं आवश्यकताओं की कहानी थी।

चकबस्त (मृ. 1926) का काव्य बीसवीं सदी के प्रथम एवं द्वितीय दशक की भारतीय राजनीति का प्रतीक है। पाश्चात्य सभ्यता से उन्हें घृणा नहीं लेकिन पूर्वी सभ्यता की धनाढ्यता से अधिक लगाव है। उनके काव्य में उपदेशात्मक शैली को सरल एवं मंझी हुई भाषा में प्रस्तुत किया गया है। उनका काव्य संग्रह 'सुबहे वतन' उनकी मातृभूमि से प्यार की दास्तान है।

गालिब के उपरांत दर्शन एवं विभिन्न धाराओं का काव्य केवल इक़बाल ने लिखा। इकबाल (मृ. 1938 ई.) इस शताब्दी का सबसे बड़ा शायर रहा है। स्वतंत्रता आंदोलन की राजनीति में उनकी भूमिका पर विभिन्न मत हैं लेकिन उनकी काव्य प्रतिभा एवं काव्य दर्शन से किसी को इंकार नहीं। सर सैयद के समर्थक इकबाल में एक अजीबो-गरीब मानसिक हलचल थी। उनको पूर्वी तथा पश्चिमी सभ्यता के विभिन्न पहलुओं के साथ दोनों सभ्यताओं के साहित्य एवं दर्शन का पूर्ण ज्ञान था। उन्हें पूर्व के मानव पतन पर क्षोभ था। इकबाल का संपूर्ण काव्य मानव उत्थान तथा आत्मशक्ति के बलवर्धन संबंधी विषयों पर आधारित है। उनका यथार्थ आदर्श है। स्वत्व एवं अहं की भावना के वह समर्थक हैं। उनके विचार में स्वत्व और अहं को नष्ट करने से मानव पतन की ओर अग्रसर होता है। उनकी काव्य रचनाओं में 'शिकवा और जवाबे शिकवा', 'बाले-जिब्रील', 'बांगे-दिरा', 'जर्बे-कलीम' आदि कई संग्रह हैं। उन्होंने फारसी में भी काव्य लेखनीबद्ध किया। उनका काव्य समकालीन काव्य से कई तत्वों में बिलकुल भिन्न नजर आता है। उनके गद्य उपदेशों के संग्रह भी संकलित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें अधिकांशत: धार्मिक विषयों (जिनसे मानव के सर्वोत्तम होने संबंधी चर्चा है) जाते-इलाही का तसुव्वर, आत्मशक्ति का दर्शन तथा मृत्यु उपरांत जीवन पर व्याख्यान है। बाले-जिब्रलि की एक गजल के कुछ अंशआर देखिए :

> अगर कज रौ[1] हैं अंजुम, आस्मां तेरा है या मेरा
> मुझे फिक्रे-जहाँ क्यूँ हो, जहाँ तेरा है या मेरा
> ऐ सुबहे-अजल इंकार की जुरअत हुई क्यूँ कर
> मुझे मालूम क्या वो राज़ दाँ तेरा है या मेरा

स्वतंत्रता आंदोलन के विभिन्न विषयों और राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण, यथार्थवाद, मार्क्सवाद तथा अन्य नई दिशाओं से उर्दू काव्य भरा हुआ है। इनमें हसरत मोहनी (मृ. 1951 ई.) का उल्लेख आवश्यक है। वे अंग्रेज सरकार से सारी उम्र लड़ते रहे। राजनीति में वे प्रतिक्रियावादी वर्ग से जुड़े हुए थे। मोहानी गांधी जी के अहिंसावाद से सहमत नहीं थे। उनकी गजलें अगर रीतिकालीन हैं तो वर्तमान परिस्थितियों को भी वर्णित करती हैं।

परंपरावादी कवियों में नजर' लखनवी, अजीज लखनवी, साकिब आदि के काव्य में परंपरागत प्रेम, नवीन दृष्टिकोण तथा सुलझे हुए सीधे-सादे विचारों को नए रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'अजीज' की गजलों को नवीन दृष्टिकोण तथा विचार की गहराई के लिए बहुत सराहा जाता है। जोश मल्सियानी और तिलोक चंद महरूम (जगन्नाथ आजाद के पिता) पंजाब में इकबाल के समकालीन थे। उनकी उर्दू शायरी थी तो परंपरा एवं रीति अनुसार मगर भावों की अभिव्यक्ति में एक अनूठापन भाषा में सरलता तथा शब्दों का सुंदर चुनाव देखने को मिलता है। दोनों फ़ारसी के प्रबुद्ध ज्ञाता एवं गुरु थे। तिलोक चंद महरूम ने परंपरागत काव्य के अतिरिक्त नई चेतना से प्रभावित हो राष्ट्रीय हित के भी गीत गाए। जोश मल्सियानी का यह शेर देखिए :

> शबे-तारिके-गम में जिंदगी का है यकीं किसको
> सफ़े-अंजुम को हम अपनी सफ़े-मातम समझते हैं

इस युग की एक प्रमुख विभूति, फानी बदायूनी (जन्म 1879 ई.) भी हैं उनका पूरा काव्य भावात्मक शैली में है। एक मतानुसार शायद ही उनकी कोई ऐसी गजल हो जिसमें एक या दो शेर दिल में न उतर जाएं। भाषा पर उन्हें संपूर्ण नियंत्रण है। छोटी बह्रों में रचित उनकी गजलों को जरा सा लयबद्ध करने पर गाया जा सकता है। इसका कारण भाषा की कोमलता, सरलता तथा प्रवाह है। 'शाह' अजीमाबादी, अमरनाथ, 'साहिर' 'अजीज', 'सीमाब', असगर गौंड़वीं आदि इस काल के उल्लेखनीय कवियों में गिन जाते हैं। इस दौर के काव्य साहित्य में हमें निम्नलिखित विशेषताएँ देखने को मिलती हैं :

---

1. टेढ़ा चलने वाला

- नई जागृति अर्थात नई परिस्थितियों का अंकन
- परिष्कृत भाषा
- सुंदर शैली
- नवीन विचारों एवं नए विषयों की अभिव्यक्ति,
- राजनैतिक परिस्थितियों के प्रतिबिंब
- आर्थिक शोषण के विरुद्ध उठती हुई आवाज
- यथार्थवाद तथा आदर्शवाद
- परंपरा एवं घनी अतीत का पुनर्जीवन

यह वही दौर है जब परंपरागत काव्य के चिह्न लेश मात्र ही रह गए थे। समाज की बदलती परिस्थितियों ने लेखकों में एक नई चेतना को जागृत किया जिसके परिणाम स्वरूप प्रगतिशील लेखकों का कार्यकाल आरंभ हुआ।

24.11.1 बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उर्दू गजल

नई चेतना एवं जागृति की भावनाओं ने उर्दू साहित्य में नई राहें तो खोली मगर पुरानी राहें बंद नहीं हो सकती थीं। मानव का लौकिक प्रेम से संबंध सदैव बना रहता है। परिवर्तित परिस्थितियों में केवल अभिव्यक्ति का रूप बदलता है। यही उर्दू गजल के साथ था। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उर्दू गजल को पुनर्जीवित करने का श्रेय शाद अजीमाबादी को दिया जाता है। उनकी गजलों में 'दर्द' का अध्यात्म और 'अनीस' की सी मुहावरेदार मगर देशज भाषा का प्रयोग मिलता है।

असगर गौड़वी सूफियाना कवि थे इसीलिए सूफीवाद का परिष्कृत रूप उनके काव्य में झलकता है। वास्तव में फानी और असगर इस काल की आध्यात्मिक गजल के प्रवर्तक हैं। असगर की कविता में गजल की ग़िनाई शायरी (गीतात्मकता) दिखाई देती है। यही कारण है कि उनकी गजलों को गाया भी खूब गया है। गजल का सबसे लोकप्रिय कवि जिगर मुरदाबादी रहा। इस दौर में फानी एवं असगर के अतिरिक्त भाव में संवेदनशीलता उत्पन्न करने की कला जिगर के काव्य में ही दिखाई पड़ती है। लेकिन उनका सूफ़ीवाद से कोई संबंध नहीं उनका प्रेम जगत प्रेम है। हालांकि नई चेतना को भी उन्होंने अपनी कविता का विषय बनाया मगर जो सफलता प्रेम गाथा को बाँधने में मिली वह नई चेतना में नहीं। यह भी मिजाज का मामला था क्योंकि उनका इश्क आग का दरिया है:

> यह इश्क नहीं आसाँ इतना तो समझ लेना
> इक आग का दरिया है और डूब के जाना है।

संक्षिप्त यह है कि उपरोक्त कवियों ने 'मीर' 'गालिब', 'मोमिन' तथा 'दाग' द्वारा डाली गई दागबेल को सींचा। उन्होंने लौकिक और आलौकिक प्रेम को इस तरह अपने काव्य में प्रस्तुत किया कि उसे सुनकर श्रोता नई जागृति की कविता को फीका और स्वादरहित कह बैठता है क्योंकि ग़ज़ल का संबंध दिल से होता है दिमाग से नहीं :

> मुहब्बत क्या है? तासीरे-मुहब्बत[1] किसको कहते हैं ?
> तेरा मजबूर कर देना मेरा मजबूर हो जाना।

24.11.2 उर्दू साहित्य में उपन्यास लेखन एवं प्रेमचन्द

प्रेमचन्द के उपन्यासों के प्रमुख विषय समाज में फैली कुरीतियाँ तथा अंधविश्वास, सामंती प्रवृत्ति तथा प्रत्येक वर्ग में स्त्री जाति का शोषण रहे हैं। प्रेमचंद अध्यापक भी थे इसीलिए समाज-सुधार संबंधी व्याख्यान अनेक अवसरों पर उनके उपन्यासों में दिखाई देते हैं। समाज संबंधी इन विषयों के अतिरिक्त राजनीति, देश-विदेश की तथा वहाँ से आयातित विचारधारा का प्रभाव उनकी लेखनी पर स्पष्ट दिखाई देता है मगर यह

1. प्रेम प्रभाव

प्रभाव स्थायी नहीं। रूसी क्रांति से वह प्रारंभ में प्रभावित थे। मगर क्रांति के बदलते चेहरे ने उनके प्रभाव को भी परिवर्तित कर दिया। उनकी रचनाओं में विभिन्न वैचारिक कोण स्वयं उभरते हैं इसीलिए उनकी प्रत्येक कृति वैचारिक दृष्टि से विभिन्न स्तर लिए हुए है। संक्षिप्त यह कि प्रेमचंद की रचनाओं में वैचारिक स्तरों का परिवर्तन दिखाई देता है। प्रेमचंद ने रचनाओं को प्रथमत: (संभवत:) उर्दू में लेखनीबद्ध कर हिंदी में रूपांतरित किया।

24.12 उर्दू साहित्य में नई विचारधाराओं का आगमन

उर्दू साहित्य में विभिन्न साहित्यिक आंदोलन, जो राजनीति और सामाजिक परिस्थितियों से प्रेरित होने के अतिरिक्त यूरोपीय साहित्यिक वादों तथा रूस की सफल क्रांति से प्रभावित थे, 1930 ई. के बाद अधिक जोर-शोर से आरंभ हुए। साहित्य लेखन लेखकों के लिए, प्रेमचंद के अनुसार, केवल दिल बहलाने का नहीं बल्कि जीवन संबंधी विषयों पर चिंतन तथा वाद-विवाद का माध्यम बन गया। वर्तमान के सभी विषयों पर चिंतन तथा उनके संभवत: हल एवं निष्कर्ष अगर लेखक अपनी लेखनी द्वारा समाज में नहीं प्रस्तुत कर सकता तो उसका चिंतन अधूरा एवं शुष्क है। उसकी चिंतन शक्ति अपरिपक्व तथा सोई हुई है। इन्हीं विचारों की प्रगति तथा समाज के लिए लिख रहे लेखकों के एक बड़े वर्ग, जिसमें उर्दू तथा हिंदी दोनों सम्मिलित थे, ने 1936 ई. में तरक्की पसंद मुसन्नफ़ीन तहरीक (प्रगतिशील लेखक संघ) की स्थापना की। वास्तव में यह आंदोलन यूरोपीय प्रगतिशील लेखकों के प्रभाव के कारण भारतीय छात्रों के एक युवा वर्ग के द्वारा लंदन से शुरू हुआ।

1932 ई. में उर्दू के नये लेखकों ने एक कहानी संग्रह 'अंगारे' के शीर्षक से प्रकाशित किया था। इसमें परंपराओं तथा समाज में फैली कुरीतियों पर चोट थी। इस संग्रह के लेखकों में सज्जाद जहीर, अहमद अली और महमूद उज्ज़फ़र के नाम उल्लेखनीय हैं। अंग्रजी लेखकों में मुल्क राज आनंद थे। 1935 ई. में इसी चिंतन के युवा वर्ग ने इस आंदोलन को एकजुट होकर चलाने का निर्णय लिया। यह स्मरणीय रहे कि इस वर्ग में अधिकांश लेखक उर्दू-दाँ थे। हिंदी, अंग्रेजी तथा बंगाली के लेखक एवं कवि भी धीरे-धीरे इस संघ से जुड़ गए। इसके मुख्य लेखक एवं कविगण में जोश मलिहाबादी, अख्तर शीरानी, असरारूल हक मजाज , मुईन अहसन जज्बी, अली सरदार जाफ़री, अहसान दानिश, अख्तरउलईमान, अहमद नदीम, कासमी, सज्जाद ज़हीर, मन्टो, कृशनचंद्र, ख्वाजा अहमद अब्बास,राजिंदर सिंह बेदी, इस्मत चुगताई आदि अनेक लेखक सम्मिलित हुए। संभवत: यह सूची अधूरी हो लेकिन उपरोक्त विद्वानों तथा अन्य के प्रगतिशील संघ से जुड़ने का उद्देश्य यह था कि समाज के पिछड़ेपन के विरुद्ध एक जिहाद छेड़ा जाए और देश को स्वतंत्र कराने तथा समाज में प्रगति एवं विकास की दिशाएँ तय करने के लिए सृजनात्मक साहित्य का निर्माण किया जाए। इस संघ के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्ष के रूप में प्रेमचंद ने इस आंदोलन की प्रमुख अपेक्षित उपलब्धियों का विस्तार से वर्णन किया।

अपनी उद्देश्य प्राप्ति के लिए भारतीय भाषाओं के लेखकों का यह संघ चौथे-पाँचवे दशक में अति क्रियाशील रहा। प्रचार के साथ अनेक प्रशंसनीय रचनाएँ इसी उद्देश्य से छपीं। इन लेखकों एवं कवियों की अधिकांश रचनाएँ हिंदी में भी अनूदित हो चुकी हैं। 1960 ई. के उपरांत तरक्की पसन्द मुसन्नफीन के ही एक असंतुष्ट वर्ग ने एक अन्य तहरीक जदीदियत (आधुनिकतावाद)की दाग़बेल डाली।

प्रेमचंद अपनी लकीर के आखिरी बड़े लेखक थे। उनके बाद लिखे गए उपन्यास नवीन शैली में लिखे गए जिनमें अधिकांश लिखने वाले मार्क्स तथा फ्रायड की विचारधारा को भारतीय लिबास पहना रहे थे। जैसे-अजीज अहमद ने फ्रायड की विचारधारा को अपने उपन्यासों में पूर्णतया समा दिया है। यौन संबंधी मानसिक तथा सामाजिक विषमताओं से उत्पन्न होने वाले उलझन भरे तत्वों का ताना बाना 'गुरेज़' में देखा जा सकता है।

प्रगतिवादी आंदोलन ने उर्दू गद्य की विभिन्न विधाओं में कहानी एवं उपन्यास के अतिरिक्त आलोचना को अधिक प्रभावित किया। कहानी अथवा अफसाने में सज्जाद ज़हीर, यलदर्म, नियाज़ फ़तहपुरी (जिन्होंने पत्रिका संपादन में भी सराहनीय कार्य अंजाम दिए) मजनूं गोरखपुरी, किृशनचंद्र एवं इम्तियाज अली आदि की रचनाएँ लकीर से हटकर हैं। उनके प्रेम-विषय संबंधी अफ़साने एक तरफा नहीं बल्कि दोतरफा हैं। लेकिन भारत में परंपराओं और रीति-रिवाजों की जड़ें इतनी गहरी और मज़बूत है कि उन्हें रचनाओं

द्वारा झिंझोड़ा तो जा सकता है उन्मूलित नहीं किया जा सकता। सामाजिक परंपराओं पर जब प्रगतिवादी लेखकों की रचनाएँ यथार्थ एवं सुधारवाद से आगे बढ़कर प्रकृतवाद और उसके नग्नवाद तक पहुँचने लगीं तो समाज के एक वर्ग विशेष को घोर आपत्ति हुई। न्यायालयों में लेखक वर्ग घसीटा जाने लगा। वास्तव में यह नग्नवाद फ्रांसीसी एवं अन्य यूरोपीय लेखकों के विचारों का प्रतिबिंब था जिसको पूर्ण स्वीकृति जब वहीं मयस्सर नहीं हुई तो पूर्वी सभ्यता के भारतीय उपमहाद्वीप में तो असंभव थी। मंटो, इस्मत चुगताई आदि को समाज के ठेकेदारों की आलोचना एवं घोर आपत्ति का सामना करना पड़ा।

24.12.1 नयी विचारधाराएँ और उर्दू उपन्यास

परंपरा से हटकर नयी तकनीक की झलकियाँ अहमद अली और कुर्रतुल-एन-हैदर के उपन्यासों से मिलती हैं कुर्रतुल-एन-हैदर का 'आग का दरिया' तथा अब्दुल्ला हुसैन के 'उदास नस्लें' ने उर्दू उपन्यास लेखन में भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं को प्रस्तुत किया है। संवेदनशील भाव, हर्षो-उल्लास तथा शोक एवं गम, भंग होते हुए स्वप्नों का संसार तथा नाकाम भोग कामनाओं का मिश्रण लिए हुए 'उदास नस्लें' पाठकों के हृदय को छू जाने वाला ऐतिहासिक उपन्यास है। 'रूसवा' का 'उमराव जान अदा' अगर एक तवायफ की आपबीती है तो यह 'नस्लों' की। कुर्रतुल-एन-हैदर ने भारतीय संस्कृति का संश्लेषण अपनी लेखनी द्वारा पाठकों तक पहुँचाया है। ख़दीजा मस्तूर का उपन्यास 'आंगन' कलात्मक चेतना और सांस्कृतिक गहराई का द्योतक है।

प्रगतिशील लेखनी के असर से राजिंदर सिंह बेदी का 'एक चादर मैली सी' बाह्य रूप में एक गाँव की जिंदगी का चित्रण है मगर उसके पर्दे के पीछे अपनी पूरी तहज़ीब की कथा सुनाता है। कृशनचंद्र ने पचास से ज्यादा उपन्यास लिखे जिनमें हिंदुस्तान की राजनैतिक अवस्था, समाज में साम्प्रदायिक दंगों द्वारा विभिन्न वर्गों का शोषण और वर्ग-संघर्ष केंद्रीय विषय बने हैं।

बीते दशकों में अच्छे उपन्यासों में 'खुदा की बस्ती', 'आधा गाँव' भारतीय संस्कृति की सजीव तस्वीर खींचने में कामयाब रहे हैं।

स्वतंत्रता से पूर्व लिखे गए अधिकांश उपन्यास, प्रगतिवादी विचारधारा की बोली बोलते नजर आते हैं। नई जागृति एवं नयी चिंतन प्रवृत्ति से विभिन्न विषयों को अनोखी दृष्टि से देखा गया है। स्वतंत्रता के उपरांत देश विभाजन तथा उससे उत्पन्न सामाजिक एवं नैतिक विषयों ने उपन्यास को नए विषय उपलब्ध कराए। उपन्यास का लघुकरण भी हुआ तथा यूरोपीय तर्ज पर नावल्ट अर्थात लघु उपन्यास कहलाने लगा। कुर्रतुल-एन-हैदर का 'हाऊसिंग सोसायटी' इस्मत का 'एक मामूली लड़की' जीलानी बानों का, 'जुगनू और सितारे' आदि कुछ नमूने हैं। जीलानी बानों और कुर्रतुल -एन-हैदर आज भी वर्तमान तथा अतीत के भारतीय समाज का तीखा और चुभता हुआ चित्रण कर रही हैं। जीलानी बानों का उपन्यास, 'ऐवाने गजल' श्रमजीवी वर्ग की क्रांतिकारी सोच की अभिव्यक्ति है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि बीसवीं शताब्दी के उर्दू साहित्य में सृजनात्मक साहित्य लेखन पर बल दिया गया। अनेक प्रशंसनीय रचनाएँ इसके परिणाम स्वरूप दिल एवं चित्त की गहराइयों से जन सामान्य की भाषा में उभरकर आई। यद्यपि उनमें कुछ का शरीर अभारतीय था लकिन पोशाक हिंदुस्तानी थी। यह आंदोलन अभी भी जारी है। कभी-कभी प्रत्येक आंदोलन व्यक्तिगत अथवा वर्ग विशेष के स्वार्थों से अधिक प्रभावित होता रहा है। प्रगतिवादी आंदोलन का भी यही हश्र है।

24.12.2 उर्दू काव्य आधुनिकता के दौर में

स्वतंत्रता पूर्व प्रारंभ हुआ नई चेतना से प्रेरित उर्दू काव्य का आधुनिक चरण बीसवीं शताब्दी के छठे-सातवें दशक से आरंभ हुआ। प्रत्येक दशक काव्य प्रथा में नए दृष्टिकोण जोड़ देता है। उर्दू काव्य भी इससे अछूता नहीं। प्रगतिवाद के स्थान पर नव-प्रगतिवाद की सुदृढ़ विचारधारा ने परंरागत काव्य की जगह मुक्त काव्य तथा केंद्रीय विषय सजीव वातावरण का चित्रण करना तय किया। उर्दू कविता समकालीन समाज और तत्युगीन समस्याओं के सभी पहलुओं को अपने अंदर की गहरी प्रतिभा द्वारा चित्रित करने में सक्षम बन चुकी है। संवेदनशील उर्दू कविता नये आवेग के साथ जोश, फ़ैज़ फ़िराक गोरखपुरी, अहमद नदीम क़ासमी, कैफ़ी आज़मी के प्रभाव से युक्त होकर ज़फ़र इकबाल, अहमद फराज अहमद मुश्ताक,

शकीब जलाली, बशीर बद्र, शहरयार, निदा फाजली, से बढ़कर क़िज़लबाश, मुसव्वर सब्जवारी, वसीम बरेलवी, शाहिद माहुली, आशुफ्ता चंगेजी, जावेद अख्तर तक एक लंबा सफर तय कर चुकी है। इसमें रीतिकालीन गजल से लेकर गद्यात्मक नज्म सभी शामिल हैं। कुछ इतनी भावुक कि दिल में घर कर जाएँ तो कुछ सिर पर से गुजर जाएँ इनका भविष्य क्या होगा यह समय की चक्की बताएगी।

24.13 उर्दू साहित्य में शोधकार्य

उर्दू साहित्य लेखन के लगभग तीन सौ वर्ष पूरे होने को हैं (अगर वली की दिल्ली यात्रा से जोड़ा जाए)। इस लंबे अर्से में साहित्य की विभिन्न शाखाओं में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हुए। इन साहित्यिक कार्यों के विषय, विचार, भाषा शैली, प्रामाणिकता आदि संबंधित विषयों पर शोध कार्य का प्रारंभ बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक से ही आरंभ हो गया था। इसके मुख्य केंद्र लाहौर, अलीगढ़, इलाहाबाद, पटना तथा लखनऊ थे। लाहौर में एकत्रित उर्दू वेत्ताओं के बड़े समूह ने पाश्चात्य शोध प्रक्रिया की शैली में उर्दू शोध एवं आलोचना कार्य प्रारंभ किया। मुहम्मद हुसैन आजाद की कृति 'आबे-हयात' से पूर्व शिबली इस दिशा में काफी कार्य अंजाम दे चुके थे यद्यपि उनका कार्य क्षेत्र फारसी साहित्य था। इस दिशा में प्रमुख श्रेय महमूद शीरानी, जिनका संबंध टोंक (राजस्थान) से था, को जाता है। उनके लिखे निबंध जो 'मकालाते- शरानी' (छः खंड) के शीर्षक से मजलिसे-तरक्की-ए-अदब, लाहौर, से छपे हैं, उर्दू शोध एवं आलोचना की प्रथम कृतियों में से है। महमूद शीरानी के अनेक शिष्यों ने उनकी ही शैली में शोध एवं आलोचना के कार्यों को जारी रखा। सैयद अब्दुल्लाह, मौलवी मुहम्मद शफ़ी, डॉ. मोहम्मद बाक़र, डॉ. वहीद कुरैशी, वजीरूलहसन आबिदी, इबादत बरेलवी आदि ने उर्दू शोध कार्य में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

उर्दू में शब्दकोश निर्माण कार्य खान आरिजू के प्रभाव से शुरू हुआ। इस मैदान में अनेक प्रकार की लुग्त (शब्द कोश) तैयार हुई। गालिब ने यह मैदान भी नहीं छोड़ा और बुरहाने-क़ाते'अ के जवाब में क़ाते'अ-बुरहान लिख डाली। कोश निर्माण में मुहम्मद शाह पादशाह शाद की 'फरहंगे-आनन्दराज' पिछली शताब्दी की वर्णमाला के अनुसार लिखी गयी प्रथम कृति है। इसके अतिरिक्त कई अन्य शब्दकोश भी उर्दू साहित्य में उल्लेखनीय स्थान रखते हैं।

24.14 सारांश

इस इकाई में आपने पढा कि इस्लाम धर्म के भारतीय उपमहाद्वीप में आगमन से उत्पन्न नई सांस्कृतिक परिस्थितियों में पैदा हुई उर्दू भाषा का साहित्य बहुत धनी है। सूफी-संतों के द्वारा आध्यात्मिक विषयों पर लिखित रचनाओं से इस साहित्य का प्रारंभ हुआ। उर्दू साहित्य वर्तमान काल में अपनी भाषायी प्रवृत्ति विशेष के कारण सभी को प्रिय है। काव्य की विभिन्न विधाओं में गजल, मर्सिया, मसनवी, रूबाई, नज्म आदि को प्रमुखता प्राप्त रही है। गजल अपनी भाव-अभिव्यक्ति के माध्यम के कारण सदैव सबसे प्रिय विधा रही है। उर्दू अफसाना, उपन्यास तथा नाटक समाज के विभिन्न वर्गों की विषम समस्याओं का चित्रण करते रहे हैं। आधुनिक भारत में उर्दू साहित्य की रचना विभिन्न विचारधाराओं पर आधारित होती गई। इनमें प्रगतिवाद को प्राथमिकता प्राप्त हुई। इस संघ के लेखक भी 1960 के बाद विभिन्न वर्गों में विभक्त हुए। जिनमें से कुछ पुरानी विचारधारा के समर्थक थे तो कुछ स्वच्छंद प्रकृति के। मुक्त कविता का विकास भी स्वच्छंद प्रकृति के कविगणों के माध्यम से हुआ। लेकिन भारतीय समाज में उर्दू कविता की एक विशेष छवि है बल्कि गैर-उर्दू भाषी भारतीयों में उर्दू का दूसरा नाम ही ग़ज़ल है। मुक्त कविता का प्रभाव पुराने प्रतिबिंबों को हटाने में असफल रहा है। क्योंकि बदलती हुई परिस्थितियों में उर्दू भाषी पाठकों की संख्या भी उर्दू लेखकों के लिए एक चिंताजनक विषय है। नए विचारों पर आधारित लिखे जा रहे उर्दू साहित्य का वर्तमान परिस्थितियों में क्या भविष्य होगा यह कहना मुश्किल है।

24.15 अभ्यास प्रश्न

1. उर्दू साहित्य के विकास में सूफी वर्ग के योगदान पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
2. अमीर खुसरो को उर्दू साहित्य का प्रवर्तक माना जाता है। विस्तारपूर्वक विश्लेषण कीजिए।
3. दक्षिण में उर्दू साहित्य के इतिहास पर संक्षिप्त चर्चा कीजिए।

4. कुतुबशाही एवं आदिलशाही कुल के शासकों ने उर्दू साहित्य का भारतीयकरण किया। इस पर टिप्पणी लिखें।

5. मीर तकी 'मीर' के काव्य में व्याप्त नैराश्य समकालीन परिस्थितियों का प्रतिबिंब है। इस विषय पर चर्चा कीजिए।

6. गालिब के काव्य में भारतीय दर्शन एवं चिंतन का चित्रण है। उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए।.

7. उन्नीसवीं शताब्दी में नवचेतना संबंधी उर्दू काव्य पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

8. 'उर्दू साहित्य 1950 के उपरांत स्वत्व की खोज में लगा रहा' इस विषय पर कारणों सहित अपने विचार प्रकट कीजिए।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1) हिंदी का गद्य-साहित्य - डॉ. रामचंद्र तिवारी
2) हिंदी समीक्षा : स्वरूप और संदर्भ -डॉ. रामदरश मिश्र
3) अधूरे साक्षात्कार - नेमिचन्द्र जैन
4) हिन्दी उपन्यास : एक न्तर्यात्रा - डॉ० रामदरश मिश्र
5) हिंदी आलोचना : डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी
6) इतिहास और आलोचना - डॉ. नामवर सिंह
7) हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी - डॉ. निर्मला जैन
8) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास - डॉ. दशरथ ओझा
9) रंग दर्शन - नेमिचन्द्र जैन
10) तारीखे उर्दू अदब, सैयद एहतिशाम हुसैन (हिंदी)
11) संरचनावाद, प्रो. गोपीचंद नारंग